अन्योक्तितरङ्गिणी

(काव्यम्)

❀ श्रीः ❀

अन्योक्तितरङ्गिणी

(काव्यम्)

निर्माता प्रकाशकश्च—

वाराणसेय-संस्कृतविश्वविद्यालय-

सम्मानितप्राध्यापकः

महामहोपाध्यायमथुराप्रसाददीक्षितः

प्रथमं संस्करणम्] वि० सं० २०२३ [मूल्यम् २॥)

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. मोतीलाल बनारसीदास, नेपालीखपरा, वाराणसी ।

२. मोतीलाल बनारसीदास, जवाहरनगर, ६ दिल्ली ।

३. संस्कृत सीरीज, चौखम्भा, वाराणसी ।

४. मास्टर खेलाड़ीलाल कचौड़ीगली, वाराणसी ।

मुद्रक—

हनुमान मुद्रण यन्त्र,

पियरी कलाँ, वाराणसी ।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय सम्मानित प्राध्यापक महामहोपाध्याय मथुराप्रसाद दीक्षित के ग्रन्थ

जिनकी छात्रोपयोगिता, देशोपयोगिता, लोकोपयोगिता पर ता० १०-३-६६ ई० को गवर्नमेण्ट संस्कृत (एकादमी) परिषद् के निर्णय से ५०००) पाँच हजार पारितोषिक और उत्तर प्रदेश के राज्यपाल गवर्नर विश्वनाथ दासजी के तरफ से भी ५००) रुपये की घोषणा ता० २६-३-६६ को हुई। एवं ५५००) पारितोषिक प्राप्त ग्रन्थों की छात्रों के प्रति उपयोगिता।

दीक्षितजी का ध्येय !

कांग्रेस के शासनकाल में राज्यों का एवं बड़े-बड़े जमींदारों का विलय हो गया। जहाँ प्रत्येक राज्य में दो-चार विद्वानों का आश्रय रहता था। एवं विशेष सम्पन्न जमींदारों के यहाँ एक दो विद्वानों का पूर्णरूपेण सदा निर्वाह होता था। आज योग्य विद्वान् अनेक विषय के आचार्य होकर भी निरालम्ब रहते हैं या दश प्रतिशत किसी विद्यालय में अध्यापक वृत्ति करते हैं। जिससे इस महार्घता में निर्वाह, लड़के-लड़कियों का विवाहादि कार्य असम्भव स्थिति पर पहुँच रहा है। इसी स्थिति को देखकर दीक्षितजी ने कौमुदी (व्याकरण) को अति सरल किया है, सूत्रार्थ ही तो वृत्ति है, जहाँ सूत्र से सूत्रार्थ प्रतीति हो जाय वहाँ वृत्ति निरर्थक है। जैसे "इको यणचि" परन्तु जहाँ सूत्र से पूर्णरूपेण सूत्रार्थ प्रतीति नहीं होती है, अनुवर्त्यमान पद भी वृत्ति में

अपेक्षित हैं, वहाँ अनुवर्त्यमान मात्र पदों की वृत्ति है, अपेक्षित अन्य भाग सूत्रोक्त है। जैसे—"अचो रहाभ्या द्वे", "यरो वा द्वे स्तः" अन्य भाग सूत्र में है। इस प्रक्रिया से कुछ समय तक असुविधा होगी। फिर दस-बारह दिनों में ही अभ्यस्त हो जाने से सरल हो जायगी। केवल डेढ़ दो वर्ष में करामलकवत् कौमुदी हो जायगी।

प्रत्युदाहरण भट्टोजिजी का जालमात्र है, छात्रों की बुद्धि का विकास न होने देना। यथा "बहुवचने झल्येत्" बहुवचने किम्? रामः रामस्य ही क्यों? सर्वस्मै सर्वस्मात् सर्वस्मिन्, छात्र कह सकता है, परन्तु छात्र को अपने दायरे में रखना, मूर्ख रहै।

फक्किका—शास्त्रार्थ का समय अब नहीं है, सुबुद्ध विद्वान् होना चाहिये, प्रथम राजदर्बारों में आगन्तुकों के साथ 'परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर, भाष्य, कैय्यट, विवरण, भूति आदि के आश्रय से शास्त्रार्थ होता था, परन्तु अब न राज्य है और न जमींदारी है, फिर भी व्याकरणाचार्य परीक्षा में शेखरादि है, तदनुरोध से पढ़ना पड़ता है, व्याकरण, व्याकरण के लिये रह जाता है। इसी बचाव के लिये दीक्षितजी ने पा० सिद्धान्त-कौमुदी लिखी, स्वरचित पा० सिद्धान्त-कौमुदी की कारकान्त हिन्दी, शेखर बालमनोरमा आदि के आधार से व्याख्या की जिससे फक्किया की व्याख्या तदाश्रित सुबुद्ध छात्र शास्त्रार्थ अवश्य कर सकता है।

छात्रों का कर्तव्य

पाणिनीय सिद्धान्त-कौमुदी से दो वर्ष में सुबुद्ध होकर व्याकरणाचार्य के साथ, अथवा साहित्याचार्य के साथ अंग्रेजी का अभ्यास करके बी० ए०

और एम० ए० होकर प्रतियोगिता (कम्पटीशन) में बैठ सकते हैं, यदि सिनेमा आदि दुर्व्यसन नहीं लगा तो सदाचारी व्याकरण-साहित्य ज्योतिष आदि का आचार्य छात्र अवश्य कंपटीसन में आवेगा।

निदान संस्कृत के छात्र अंग्रेजी के छात्रों की अपेक्षा परिश्रमी कल्पक अधिक बुद्धिमान् होते हैं, क्योंकि आचार्य परीक्षा में "कल्पना बुद्धि वर्धिका-शक्ति" होती है।

कम्पटीशन के लिये

एस०-पी०, डी० एस०-पी० तहसीलदार, कोतवाल, दारोगा, थानेदार आदि अनेक विभाग हैं।

अतः छात्रों से मेरा नम्र-निवेदन है कि "पाणिनीय सिद्धान्त-कौमुदी" के सहयोग से शीघ्र मध्यमा पास कर कम्पटीशन की तैयारी करें। पाणिनीय सिद्धान्त-कौमुदी का समास तद्धित उत्तरार्द्ध का अनुवाद हो रहा है इति।

काव्य—समास के लिये "सन्धिसमास मञ्जूषा" है इसमें समास की प्रक्रिया अति सरल कर दी गई है, समास परिज्ञान के लिये सूत्र दीक्षितजी ने निर्माण किये हैं। जैसे—"पदद्वयोर्मध्ये विभक्त्यर्थे प्रतिभासमाने तत्पुरुषः" यथा राजपुरुषः, कृष्णसुतः, शिवभार्या आदि।

समास प्रक्रिया के अतिरिक्त अपठित श्लोक का अर्थ निकालना, प्रत्येक छन्द में श्लोक निर्माण शिक्षा है।

नाटक

नाटकों में प्राकृत परिज्ञान के लिये "पाली प्राकृत व्याकरण" है। इसमें केवल सत्तर (७०) सूत्र हैं, प्रतिदिन केवल पाँच सूत्रों का अनुगम करने

से ही पन्द्रह दिनों में प्राकृत का विद्वान् हो सकता है, प्राकृत का संस्कृत करना, संस्कृत का प्राकृत करना अतिसरल हो जायगा। एवं पूर्वोक्त ग्रन्थों से साहित्याचार्य स्वल्प परिश्रम साध्य हो जायगा।

दीक्षितजी के ७ नाटक

नायका कालिदासस्य सर्वे सन्ति विलासिनः।
नायका दीक्षितस्यैते सर्वे वीरा रणोद्भटाः ॥१॥

१—वीर प्रताप। २—भारत-विजय। ३—पृथ्वीराज विजय। ४—भक्त-सुदर्शन। ५—भूभारोद्धरण। ६—शङ्कर-विजय। ७—गाँधी-विजय।

अन्य १४ ग्रन्थरत्न

१—पाणिनीय सिद्धान्त-कौमुदी। २—पा० सिद्धान्त-कौमुदी कारकान्त हिन्दी व्याख्या। ३—पाली प्राकृत व्याकरण। ४—काव्यकला। ५—रोगिमृत्यु-विज्ञान वैद्यक (अरिष्ट)। ६—पृथ्वीराजरासो। ७—केलिकुतूहल कामशास्त्र। ८—केलिकुतूहल हिन्दी व्याख्या सहित। ९—अत्रि निर्वचन। १०—मातृदर्शन (आनन्दमयी माताजी के वचनों की व्याख्या)। ११—भगवच्चरणोत्प्रेक्षा। १२—अन्योक्तितरङ्गिणी। १३—सन्धिसमास मञ्जूषा। १४—कौल वाम-समीक्षा। नौ ग्रन्थ, नारायणि निर्णय १, कुतर्ककुठार २, कलिदूत मुखमर्दनं ३ आदि पाकिस्तान विभाग से लाहौर में रह गये।

मेरे सभी नाटक समयानुकूल शौर्य-प्रधान हैं

मैं अध्ययन करता हुआ सन् १९०५ से अँग्रेजों के अन्याय अत्याचार से उत्तप्त रहता, उग्रदल में अभिरुचि रहती यथासमय उन्हीं के ग्रन्थ, तिलकजी का केशरी अखबार पढ़ता था। सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में लाहौर एचिसन कालेज से राजकुमारों का ग्यारह वर्ष का अध्ययन कार्य छोड़ दिया।

सन् १९२३ में एचिसन कालेज के शिष्य स्वायत्त शासक (जि० शिमला) महाराजा सोलन नरेश श्री दुर्गासिहजी के अनुरोध से उन्हें पढ़ाने गया और थोड़े समय में ही योग्य विद्वान् कर दिया।

वहाँ पर्याप्त समय मिलता था। अतः नवयुवकों में शौर्य-धैर्य साहस सहिष्णुतादि गुणों को उद्‌बुद्ध करने के लिये अनुकरणीय, सुगृहीत नामधेय प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रतापसिह का "वीर प्रताप नाटक" लिखा। जिसका अभिनय लाहौर ओरियण्टल (गवर्नमेण्ट) कालेज

के प्रधान प्रोफेसर डा० लक्ष्मण स्वरूपजी ने दो दिन कराया। प्रथम दिन चार हजार और द्वितीय दिन छः-सात हजार जनता हो गयी थी। सभी जनता ने भूरि-भूरि उसकी रचना और गुणों की, अभिनेयत्व की प्रशंसा की।

प्राक्कथनम्

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सम्मानितप्राध्यापकानां महामहोपाध्यायपण्डितप्रवरश्रीमथुराप्रसाददीक्षितमहाभागानाम् 'अन्योक्तितरङ्गिणी' नामकस्य कमनीयकाव्यस्य प्राक्कथनोपन्यासावसरप्राप्तावात्मनः सौभाग्यं मन्यमानो महान्तमानन्दमनुभवामि । महामहोपाध्यायैः प्रस्तुतस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रणयन-प्रकाशनाभ्यां परिस्फुटीकृतोऽयमर्थो यदद्यापि कालिदासभवभूतिप्रभृतीन् प्राचीनान् कविधुरन्धरान् स्मारयन्तः कवितल्लजाः स्वकृतिभिर्भारतवसुन्धराया अलङ्करणेऽनलसं व्याप्रियमाणा विराजन्ते ।

अद्यतनीषु प्रायः सर्वासु रचनासु ग्रन्थकृतां पाण्डित्यप्रदर्शनलोभो दरीदृश्यते । येन दुरूहता कृतपदा प्रसादगुणं निपीड्य विरलसंस्कृतप्रचारेऽस्मिन् युगे सुरभारत्यामजस्रं जनापरागमेव वर्धयन्ती तस्याः संवर्धनं प्रचारं च प्रत्यहं दुर्घटं विदधाति । अनुभवसमृद्धिसमेधितेन सूक्ष्मेक्षणेन वस्तुस्थितिं पर्यालोचयता ग्रन्थकारेण लघुटिप्पण्या पद्यजातानि प्रसाधयता स्वकीया समग्रा रचना प्रसादगुणेन तथा मण्डिता यथा कोमलमतीनामपि पाठकानां काव्यरसः सर्वथा सुलभः । अस्यार्थस्य पुष्टये प्रथममेव पद्यं निस्संकोचमुदाहर्त्तुं शक्यम् । यथा—

> रे रे मत्कुण ! रक्तपानचतुरो मायाविनामग्रणी-
> विक्रान्तोऽसि पलायने पटुतरस्त्वामस्मि सम्प्रार्थये ।
> एते क्लान्ततरा निरन्नवसनाः क्षामाः क्षुधापीडिता-
> श्छात्रास्तान् परिहाय शोणितयुतानन्यान् नरान् शोषय ।।१।।

अत्र मत्कुणायमानेन केनापि सामर्थ्यशालिना पीड्यमानेषु छात्रेषु दयमानेन कविना सर्वथा नूतनता चमत्कारिता चानायि निजरचनाम् ।

अस्मिन् ग्रन्थे निबद्धानि प्रायो निखिलान्येव पद्यानि मयाऽवलोकितानि । सर्वत्रैव तत्र नूनं कश्चन नूतनार्थः समुल्लसति, किमपि वाचां पाटवं परिस्फुरति, विवक्षितस्य च काचन तिग्मता मर्मसु पदं निदधाति । यत्स्फुटान्यपि श्लोकपदानि सविस्तरया संस्कृतव्याख्यया स्फुटतरीकृतानि तत्तु महोपयोगि विशेषेणाधुनातन्यां संस्कृताध्ययनस्थितौ । अन्योक्तिर्नाम अन्यमुद्दिश्य अन्यं प्रति कथनम् । यथा—'रे रे चातक ! सावधानमनसा मित्र ! क्षणं श्रूयताम्' इनि पद्ये चातकमुद्दिश्य याचकान् प्रत्युक्तिः । एवं च अत्रत्य पद्येषु श्लेषानुप्राणितैः अन्योक्त्यपरनामधेयैरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारप्रकारैः सम्यगलङ्कृतेऽस्मिन् काव्यग्रन्थे स्थाने-स्थाने स्वभावोक्तयः पशुकीटादीनां रवविशेषाः व्यञ्जनाविभ्रमाश्च सर्वे पाठकानामन्तःकरणहरणे परं पटीयांसः । आदावेव सम्बद्धानि कानिचित्पद्यान्यत्रोदाह्रियन्ते—

रे झाङ्कारक ! झां करोषि कुहरे गाढान्धकारे स्थितः
स्वं जानासि मृषैव धीधनमलं स्कन्धं स्वकं कम्पयन् ।
आगच्छेः प्रभया सिते यदि पथि स्वल्पं तदा पक्षिणो
वैदुष्यं च परीत्य ते चतुरतां द्रक्ष्यन्ति सोत्साहकम् ॥

रेङ्कारं कुरु काननेषु विचरन् रे रासभ ! प्रोल्लसन्
स्वं सर्वेषु समुन्नतं पदयुगं प्रख्यापय प्रक्षिपन् ।
वर्द्धेथाश्च विवेकशून्यहृदयो भुक्त्वा तृण मूलतः
स्वेच्छा चारपटुर्हरिर्यदधुना शुभ्रे गिरौ राजते ॥

फेत्कारो मृगधूर्तकैः कटुरवः क्षुद्रैः परित्यज्यतां
वाहैश्चापि पलाय्यतां क्वचिदथो निह्नूयतां सैरिभैः।
मत्तैरद्य मतङ्गजैः स्थलमलं नीचं परिभ्रम्यतां
जाग्रज्जृम्भितवक्त्रको यदधुना सिंहो वनं गाहते ॥

सौभाग्यभोगभाजनं कञ्चन जनमुद्दिश्य कपोतं प्रति वक्ष्यमाणमप्रस्तुत-प्रशंसासमृद्धं पद्यं सर्वथा मनोहरतरम्—

शर्करा प्रतिपदं तव जग्धिः पत्रमेव वसनं परिधत्से।
सर्वदा सहचरी वनिता ते कः कपोत ! सुसुखी भवतोऽन्यः ॥

अलोकसामान्यगुणा अपि कथं संसारे दुःखदावाग्नौ दह्यन्त इति वक्ष्यमाणे पद्ये सुष्ठु प्रदर्शितम्—

पश्य कीर ! सुमनोहरवाचां भाषणस्य पठनस्य फलं ते।
यत् कुटुम्बिभिरहो परिमुक्तो गाढपञ्जरगतो भृतिमाप्तः ॥

सर्वाण्येव पद्यान्युद्धरणार्हतां भजन्ते, एकमपि पद्यं तादृशं नास्ति यत्सुखश्रवणे सुखाध्ययने चमत्काराधाने चापरापेक्षया पश्चात्पदं भवेत्। स्थालीपुलाकन्यायेन तेषु कतिपयान्येव पुरस्कुर्वता मयाऽऽशास्यते, यदेतदामुखं पठतां पिपठिषाऽवश्यं तीव्रा भवेत्।

कदाचित् कुत्रचित् पण्डितराजस्य जगन्नाथस्य भामिनीविलासस्थाया अन्योक्तेरन्यस्य वा कविवरस्य भणितेश्छाया यदि केषुचन श्लोकेषु दृश्यते तत्तत्राप्यवहितेन मनसा कश्चन विशेषः किञ्चन, वैशिष्ट्यं वाऽनुसन्धेयं सुधीभिर्न पुनः "न चापि काव्यं नवमित्यवद्यमि" त्युपेक्षमाणैस्तत्र विरक्तिरुद्भाव्या।

अन्ते सम्मानपूर्णैः शतशः संवर्धनवचोभिः पण्डितवर्यान् सभाजयन् भगवन्तं काशीविश्वनाथमभ्यर्थये ।

यद्—

अधीत्यध्यापनग्रन्थ-रचनाभिर्निरन्तरम् ।
समाराधयतो भक्त्या बाल्यादेव द्युषद्गिरः ॥
अधिकाशि वयस्तुर्यं व्रजमोहननिष्ठया ।
नयतो बुधवर्यस्य दीक्षितस्य महाकवेः ॥
प्रसूतबहुलग्रन्थलेखनीतो विनिर्गता ।
चिरं जयतु विश्वस्मिन्नन्योक्तीनां तरङ्गिणी ॥

बदरीनाथशुक्लः
न्यायवैशेषिकशास्त्रप्राध्यापकस्तद्विभागाध्यक्षश्च
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्थः

२२ । ५ । ६६

❀ श्रीः ❀

अन्योक्तितरङ्गिणी

जगदम्बां जगद्धात्रीं लोकेश्वरमुमापतिम् ।
भवानीं शंकरं नत्वा वक्ष्ये ऽन्योक्तितरङ्गिणीम् ॥

रे रे मत्कुण ! रक्तपानचतुरो मायाविनामग्रणी-
र्विक्रान्तोऽसि पलायने पटुतरस्त्वामस्मि संप्रार्थये ।
एते क्लान्ततरा निरन्नवसनाः क्षामाः क्षुधापीडिता-
श्छात्रास्तान् परिहाय शोणितयुतानन्यान्नरान् शोषय ॥१॥

छात्रेषु दयामाचरन् कश्चित् संस्कृतच्छात्राणां दशादर्शनेन मायाविनं पटुतरं कंचिन्मत्कुणकल्पं प्रार्थयते, इति भावः ।

रे झांकारक ! झां करोषि कुहरे गाढान्धकारे स्थितः
स्वं जानासि मृषैव धीधनमलं स्कन्धं स्वकं कम्पयन् ।
आगच्छेः प्रभया सिते यदि पथि स्वल्पं तदा पक्षिणो
वैदुष्यं च परीत्य ते चतुरतां द्रक्ष्यन्ति सोत्साहकम् ॥२॥

आत्मानं बहु मन्यमानं स्वगृहे कोष्ठके स्थित्वा आत्मश्लाघया झाज् २ इति (लोके बहुतरोक्तौ प्रसिद्धम्) कुर्वन्तं झिल्लकं "भृंगारी झीरुका चीरी झिल्लिका च समा इमाः" इत्यमरः स्वभावतः स्वकं स्कन्धं कम्पयन्निति तत्स्वभावोक्तिः । यदि विकसिते पथि स्वल्पं क्षणमात्रम् आगच्छेः, तदा पक्षिणः अस्म-

त्पक्षावलम्बिनश्च सोत्साहं ते वैदुष्यं चतुरतां च द्रक्ष्यन्ति । झिल्लिकां पश्यन्त एव पक्षिणः क्षणमात्रेण लोटयन्ति । कमपि पण्डितंमन्यं प्रति कस्यचिद् विदुष उक्तिरियम् ।। २ ।।

रे रे चन्दन ! दुष्टभोगिभिरलं व्याप्तेर्न सत्पूजितः
सौगन्ध्यादिगुणैस्त्रिलोकविदितः किं तेन दैन्ये कृतम् ।
यच्छायामपि नाधिगच्छति तव क्षीणोऽपि लोकोऽध्वगः
किञ्चान्यत्कथयामि नोपकुरुषे जीवन् शुभं कस्यचित् ।।३।।

कस्यचिद् विदुषः अतिकृपणं स्थानदानेनापि असत्कुर्वाणं यावज्जीवमनुपकारिणं राजानं धनिकं श्रेष्ठिनं वा आश्रित्य उक्तिरियम् । दुष्टभोगिभिः—भोगविलासवद्भिः सर्पैर्वा अलं व्याप्तेः, सद्भिः उत्तमपुरुषैर्विद्वद्भिर्वा न पूजितः । न ते द्वारि सन्तो महात्मानस्तपश्चर्यां कुर्वन्तो विलोक्यन्ते, अन्यत्र तव सन्निधौ न कोऽपि विद्वान् वर्तते । सौगन्ध्यादिगुणैः, हीरकादिसुवर्णसम्पत्त्या कुबेरसादृश्येन च त्रिभुवनविख्यातः, दैन्ये दीनावस्थामापन्ने अर्शादित्वादच् । अथवा दीनतायाम्, यद्वा दीन इति पाठः । किं तेन प्रसिद्धिमात्रेण दैन्ये कृतम्, न खलु भवतां प्रसिद्धिमात्रेण दैन्यमपगच्छति । यत् क्षीणोपि अध्वगः अध्वनीनः अन्यत्र सन्मार्गावलम्बी सदाचारीत्यर्थः लोकः तवच्छायामपि नाधिगच्छति, त्वदायत्ततया स्थितेर्वार्ता दूर एवेति भावः । किञ्चान्यत्कथयामि । त्वं जीवन् कस्यचिन्नोपकुरुषे कृपणोऽपि एतादृगेव भवतीति तमुद्दिश्य चन्दनं प्रतीयमुक्तिश्चन्दनपक्षे सुस्पष्टमेव ।।३।।

रे रे द्वारमुपेत्य कुक्कुर ! वदे रौद्धत्यमाख्यापयन्
मा जानीहि समुन्नतं गुरुजनं शान्तिप्रियं भूसुरम् ।
किन्तु क्षीणबलः पलायनपटुर्ज्ञातोऽसि तत्त्वेन यद्
विज्ञानां कतिचित्पदश्रवणतः संलीयसेऽभ्यन्तरे ।।४।।

स्वकीयद्वारि स्थितं वल्गन्तं कमपि विद्वांसममन्यमानं पण्डितंमन्य मुद्दिश्य कुक्कुरं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम्। भूभूसुरम् "भूदेवा वै ब्राह्मणाः" इति श्रुतिः। विज्ञानां त्वदीयपलायनस्वभावाभिज्ञानाम् विदुषां च कतिचित्पदश्रवणातः, कतिचित् चरणशब्दश्रवणातः अभ्यन्तरे संलीयसे एष दुर्बलानां भीरूणां कुक्कुराणां स्वभाव एव। अथ च विदुषां सुप्तिङन्तस्वरूपाणां पादानां श्रवणातः तेषां वैदुष्यमवगच्छन् स्वपराजयभिया आत्ममानरक्षार्थमभ्यन्तरे संलीयसे इति ज्ञातोऽसीति भावः ॥४॥

रेङ्कारं कुरु काननेषु विचरन् रे रासभ ! प्रोल्लसन्
स्वं सर्वेषु समुन्नतं पदयुगं प्रख्यापय प्रक्षिपन्।
वर्द्धथाश्च विवेकशून्यहृदयो भुक्त्वा तृणं मूलतः
स्वेच्छाचारपटुर्हरिर्यदधुना शुभ्रे गिरौ राजते ॥५॥

प्रोल्लसन् काननेषु विद्वद्भिः शून्येषु वृक्षसमुदायस्वरूपकाननोपादानान्मूर्खव्याप्तेषु स्थानेषु विचरन् रेङ्कारं कुरु। पदयुगं चरणयुगलं सुप्तिङन्तस्वरूपं पदद्वयं किञ्चिन्मात्रं च प्रक्षिपन् स्वं सर्वेषु समुन्नतं प्रख्यापय, न खलु मत्सदृशः कश्चिदपि शूरो वीरः, अन्यत्र विद्वानस्ति, मूलतः तृणभक्षणात् विवेकशून्यहृदयत्वम्, अन्यत्र अध्ययनाध्यापनविलोपात् शून्यहृदयत्वम् एवं सति वर्द्धथाः न कश्चिदपि तव नियामकः। यद् इदानीं हरिः सिंहः प्रौढो विद्वांश्च हिमालये राजते। न खलु तत्समक्षं कश्चित् किञ्चिदपि वक्तुं प्रभवति। इति दुरभिमानिनं पण्डितमुद्दिश्य गर्दभं प्रत्युक्तिः ॥५॥

फेत्कारो मृगधूर्तकैः कटुरवः क्षुद्रैः परित्यज्यतां
वाहैश्चापि पलाय्यतां क्वचिदथो निह्नूयतां सैरिभैः।
मत्तैश्चापि मतङ्गजैः स्थलमलं नीचं परिभ्रम्यतां
जाग्रत् जृम्भितवक्त्रको यदधुना सिंहो वनं गाहते ॥६॥

सिंहस्वरूपं सर्वशास्त्रनिष्णातं विद्वांसमाश्रित्य विद्वन्मानिनस्तत्समक्षम-किञ्चित्करान् आरण्यान् मूर्खान् पशूनुपदिशतीति भावः। श्लोकार्थः स्पष्ट एवेति न व्याख्यायते ॥६॥

सन् साधुः कुरुते परोपकृतिमानिन्दन्ति तं येऽधमा-
स्तान्नो हन्ति न वा परोपकरणं मुञ्चत्यदो भावय।
बुक्कत्येव तु सारमेयकगणो हस्ती न तं पश्यति
क्षुद्राणां वचने महान्न कुरुते दुष्टां मनोविक्रियाम् ॥७॥

कश्चित् परोपकारं कुर्वाणं विद्वांसं साधुं सर्वतो निन्दतः, नायं किञ्चि-दपि कर्तुं शक्त इति वल्गतः अधमान् प्रति कथयति दृष्टान्तमुखेन तद् दर्शयति। सारमेयकगणः कुक्कुरसमुदायः हस्तिनमवलोक्य दुष्टस्व-भावात् बुक्कत्येव। हस्ती तं न पश्यति। तुः अप्यर्थे। हस्ती तं पश्यत्यपि न। स्वकार्यं कुरुते न रुद्धो भवति। यतः क्षुद्राणां शुनां क्षुद्रस्वभावानां दुष्टानां च वचने महान् दुष्टां मनोविक्रियां न कुरुते। जातायां मनोविक्रियायां दुष्टस्य नामापि न स्थास्यति अतः परोपकारकर्तृणां निन्दां परिहर। अन्तिमार्धेनेति अन्योक्तिरिति भावः ॥७॥

रे रे टिट्टिभ! भावयस्व मनसा शक्राशनेः पौरुषं
मिथ्यैवाङ्घ्रियुगं दधास्युपरि तत्पातं निरोद्धुं धिया।
आयान्तं परितः प्रकाशितपदं सर्वैः स्तुतं सादरं
को रोद्धुं वद तं महोत्तमरवं विज्ञेष्वपि स्यात्क्षमः ॥८॥

कश्चित्पण्डितंमन्यः सर्वलोकातीतविकासं तं निरोद्धुं मिथ्यैव अङ्घ्रियुगं द्वित्रपदानि उपरि दधासि। अहमेवं पूर्वपक्षं विधास्यामि अहमेवं कथयिष्या-मीति वल्गन्तं कथयति। महोत्तमरवं सयुक्तिकं हेतूपन्यासपुरः सरं कथ-

यन्तं विज्ञेषु व्याकरणन्यायसाहित्यदर्शनशास्त्रनिष्णातेषु अन्यत्र मन्त्रतन्त्रादि-ज्ञानकुशलेषु अपि को निरोद्धुं क्षमः स्यात्। तस्मात् गर्वं विहाय तं लोकातीतं विद्वांसं पूजय इति भावः। विद्युतः पातकथनेन कस्यचिद् वैदुष्यवर्णनम् ॥८॥

रे रे वृश्चिक! चिन्तयेर्ननु भवान् कन्दर्पदेवप्रिय-
स्तत्त्वज्ञानवतां गृहेष्वपि कुतो न्यायोऽयमासादितः।
यद्दुःखेषु गतं नितान्तमबलं त्वां रक्षयन् यः स्थित-
स्तस्यैवोपकृतेरसौ प्रतिकृतिः क्ष्वेडैस्त्वयाऽऽचर्यते ॥९॥

कमपि कर्मठं गृहीतवेदान्तविद्यम् उपकारकारिण एव विरुद्धमाचरन्त-माश्रित्य वृश्चिकमाह। कन्दर्पदेवप्रियः माघशुक्लपञ्चाभ्यां वसन्तारम्भे कन्दर्पपूजया सह वृश्चिकस्यापि गोधूमनिर्मितस्य पूजनं भवतीति श्वेताम्बरार्हत-ग्रन्थे कथाभागे स्थितम्। तत्त्वज्ञानिनामपि गेहे तस्य स्थितिर्भवतीति नाविरुद्धम्। अयमर्थः। वर्षतौ कस्याञ्चिन्नद्यां प्रवहन्तं प्राणप्रियमकिञ्चित्करं वृश्चिकं कश्चित् सजलाञ्जलिना उदस्थापयत्, स यावत् तं भूमौ सुरक्षिते स्थाने क्षिपति तावदेव द्वित्रवारमदशत्, इति क्ष्वेडैरियं प्रतिकृतिः प्रतीकारः इति तस्य दौरात्म्यप्रकटनमिति भावः। अन्योक्तिः स्फुटैवेति दिक् ॥९॥

दुग्धं किं विषदं सरीसृपममुं भीतेः समुद्भावकं
व्यर्थं पाययसि क्षमाविरहितं रे चेतसा चिन्तय।
सौख्यं चैष करिष्यतीति तु कथा दूरे समाधीयतां
प्राणान् हन्ति दृशापि यच्च तदसौ स्वान्तात् परित्यज्यताम्

कश्चित्कमपि स्वमित्रमाह, असौ स्वभावतः सर्वलोकापकारकः क्षमा-विरहितो दृशापि विषोद्गिरणशीलः साक्षात्सर्प एवेति मा एनं पालय पोषयेति दूरात्परिहरेति भावः। सुस्पष्ट एवार्थ इति न व्याख्यायते ॥१०॥

श्रौतस्मार्ततटे युक्त्यतिवहत्कल्लोलमालाकुले
नृत्यत्तर्कपरीतनक्रबहुले सत्पक्षधारावृते ।
साक्षात्तत्प्रतिषेधवाडववृते ह्यैतिह्यचक्राञ्चिते
श्रीनारायणनिर्णयामृतनिधौ माऽस्मिन् खलः खेलतु ॥११॥

स्वकृतनारायणबलिनिर्णयस्वरूपं निरूप्य भयङ्करे श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणोपेतेऽस्मिन् स्वप्रतिष्ठापालकः कश्चिदपीर्ष्यालुः खलः मा खेलतु, तद्विचारणायां मा समुद्यतो भवतु । तत्स्वरूपनिरूपणमेवान्योक्तिः ॥११॥

अथ वसन्ततिलकया दशकमाह

रे ज्योतिरिङ्गण ! भवांस्तमसि प्रगाढे,
प्रायो जलस्य सविधे कुरुतां विकाशम् ।
अस्मत्कृतिप्रखरभास्करभाप्रकाशे,
नामाऽपि ते न भवति क्व तु वादचर्चा ॥१२॥

कमपि लोकातिशायिनं प्रसिद्धम् अस्मत्कृतनारायणबलिनिर्णये शास्त्रार्थमभिलषन्तमाश्रित्य ज्योतिरिङ्गणं-खद्योतमाह । प्रगाढे तमसि अन्धकारे, अथ च प्रगाढे मद्यमदरूपे तमसि अज्ञानान्धकारे, जलस्य डलयोः सावर्ण्यात् जडस्य-मूर्खस्य सविधे समीपे विकाशं कुरुताम्, यथेच्छं स्वपाण्डित्यगर्वप्रकाशं वा कुरुताम् रे ज्योतिरिङ्गण ! मध्याह्नकालिकसूर्यप्रकाशे, अथ च अस्मत्कृतिप्रखरभाप्रकाशे युक्तिषष्टिसंख्याकप्रमाणप्रखरप्रकाशे ते नामापि तव नावतिष्ठते नाममात्रतोऽपि नावलोकसे, वादचर्चाया वार्ता तु दूरापेतेति ॥१२॥

पश्चादुपानदयि किं क्षिपसि प्रभूतां,
धूलिं विदीर्णवदना प्रभयाऽतिहीना ।

आलोक्य भावय तवैव तु भर्तृकाय-
मालोड्य धावति समाक्रमितुं शिरः सा ॥१३॥

लाहोरपत्तने अभिनीतं संस्कृताध्यापकलक्ष्मणस्वरूपादिभिः प्रशंसितं वैदेशिकेन उपकुलप्रतिनाः समाहृतम् असंमुखं निन्दन्तं धृतजीर्णोपानहं कञ्चन-पण्डितमाश्रित्य कश्चित् जीर्णतदीयोपानहं प्रतिवक्ति । व्याख्या सुगमा । अन्योक्तिः स्फुटैव ॥१३॥

रे रे समुन्नतिमुपैति यदि प्रतापः
किं ते हृतं यदसि नम्रमुखो ऽतिखिन्नः ।
किञ्चिद् वदन्नथ गुहासु निलीय बिभ्यद्
ध्वान्तप्रियैः समनुयाहि दिवान्धराज ! ॥१४॥

अस्मत्कृतप्रतापविजयनाटकस्य समुन्नतिमवलोक्य नम्रमुखं स्वभावतः परसमुन्नतौ खिन्नं कमपि पण्डितमाश्रित्य उलूकं प्रति वक्ति । हे दिवान्ध-राज ! उलूक ! प्रतापः प्रकृष्टः तापो यस्येति सूर्यः अथ च तन्नामकः प्रतापविजयग्रन्थः तस्य समुन्नतिं सूर्यः, प्रभातसमयादारम्य समुदयमानः ऊर्ध्वम् उपैति "एत्येधत्यूठ्सु" इति वृद्धिः । ते किं हृतम् यद् नम्रमुखः अति-खिन्नः असि । अथ किंचिद् वदन् घूत्कारं कुर्वन्, बिभ्यत् मा कश्चित् हन्यात् अथ च किंचिदुक्तस्य समुत्तरोपलब्धेर्मानभङ्गात् बिभ्यत् निलीय गुहासु ध्वान्तप्रियैः अज्ञानान्धकारप्रियैः मूर्खैः सह समनुयाहि । उल्लूकं प्रति उक्तौ प्रतापविरोधिनमुक्तिः ॥१४॥

रे दुर्मदान्ध ! कुसुमस्तवकं किमेष
कौन्दं विकाशमुखमाक्षिपसीर्ष्ययैव ।
क्वायं हरेः शिरसि लब्धगुणप्रभावः
क्वायं भवान् हरिपदावनतो विषण्णः ॥१५॥

कश्चिद् राजाधिराज पूजितं कमपि विद्वांसं पराभवन्तं स्वल्पधनमदेन अन्धीभूतं वणिजमाश्रित्य हस्तिनमाह । कौन्दम्, कुन्दस्येदं कौन्दम् कुसुमस्तवकम्, कुन्दपुष्पमतिमनोहरं शुभ्रं भवति, अयं हरेः इन्द्रस्य साधारणनृपस्य शिरसि लब्धगुणप्रभावः क्व, हरिपदावनतो भवान् क्व । पुष्पपक्षे हरेः विष्णोः । हरिपदावनतः सिंहपदावनतः, इति अन्यत् सुगमम् ॥१५॥

रे शाल्मले ! किमिह जीवसि भारभूतो
जातः स्थिरायुरपि दीर्घतनुर्विशालः ।
कीराः पतन्ति भवतीड्यफलाशयैव
त्वं निष्फलैरथ फलैः परिशोभितोऽसि ॥१६॥

परम्परागतदीर्घकालिकसमृद्धिसंपन्नम् अतिकृपणम् तस्य विपणोरारभटीमालोक्य आगतवतो याचकान् पराङ्मुखीकुर्वन्तं वणिजमाश्रित्य शाल्मलिवृक्षमाह । रे शाल्मले ! स्थिरायुः "स्थिरायुः शाल्मलिर्द्वयोः" इत्यमरः दीर्घतनुर्विशालः जातः, इह भारभूतः सन् किं जीवसि, किमर्थं जीवसीत्यर्थः, भवति ईड्यफलाशयैव कीराः शुकाः पतन्ति, त्वं निष्फलैरेव फलैः परिशोभितोऽसि । मिथ्यैव विपणोरारभटीति भावः । शाल्मलिवृक्षे दीर्घाणि रक्तवर्णानि आकर्षकारिणि पुष्पाणि भवन्ति फलानि च बहूनि भवन्ति परंतु तेषामन्तस्तूलमेव भवति न तत्कीराणां क्षुधाशमकं भवतीति भावः । द्वितीयपक्षे अर्थः स्पष्ट एव ॥१६॥

रे स्वान्तरेण विटपिन् परिभाव्य किञ्चि-
त्कायं चरेर्ननु भवान् स्थिरजीवितोऽसि ।
धिक् त्वां फलोन्मुखगतान् विफलान् विधित्सन्
त्रस्तान्करोषि यदमूंश्चटकारतस्त्वम् ॥१७॥

दीर्घकालिकविपरिणमन्तं समागतयाचकान् चटकारशब्दात् त्रस्तान् कुर्वन्तं कमपि कृपणमाश्रित्य शाल्मलिपिटपिनमाह। रे विटपिन् पिटं पातुं रक्षितुं शीलमस्येति। तत्संबुद्धौ दुराचारिन् अन्यत्र रे वृक्ष! "विटपी पादपस्तरु" रित्यमरः। स्वान्तरेण स्वकीयान्तःकरणेन किञ्चिद् परिभाव्य विचार्य योग्यायोग्यपुरुषं पक्षिणमत्रगत्य कार्यं चरेः। ननु भवान् स्थिरजीवितः दीर्घकालिकविपरिणामान् अन्यत्र स्थिरायुः पवनरंहसा पातुयितुमशक्यः असि। यत् फलोन्मुखगतान् अमून् याचकान् पक्षिणश्च विफलाम् विधित्सन् त्वं चटकारशब्दतः त्रस्तान् भयोद्विग्नान् करोषि तत् तस्मात्कारणात् त्वां धिक्। वणिक्पक्षे, नैष याचको गच्छतीति द्वित्रचपेटाः चटकाः कुरु। अन्यत्र शाल्मलिफलानां प्रकृतिरेषा यद् पूर्णपरिपाके चटशब्दं विदधाति विदीर्णानि तूलं प्रक्षिप्नुवन्ति। तत् याचकैः सह नैष व्यवहारः श्रेष्ठिनाँ योग्य इति भावः। शाल्मलेर्वर्णनात् श्रेष्ठिनं प्रति उक्तिः ॥१७॥

स्वादुप्रियालसहकारफलानि हित्वा
दृष्ट्वाऽरुणं च विपुलं फलपुञ्जमेव।
त्वय्यागतस्त्वमसि धूर्ततरो वनेऽस्मिन्
ज्ञातोऽसि यन्नु विफलानि फलानिधत्ते ॥१८॥

स्वादूनि मिष्टानि प्रियालस्य खिन्नी इति लोके प्रसिद्धस्य राजादनस्य "राजादनं प्रियालः स्यादित्यमरः"। 'सहकारस्य' तिसौरभस्याम्रअस्य च फलानि हित्वा विपुलम् अरुणं फलपुञ्जमेव दृष्ट्वा त्वयि आगतः। यत् त्वं विफलानि फलानि धत्से इति हेतोः अस्मिन् वने धूर्ततरः ज्ञातः असि। नु इति निश्चये। कश्चित् विज्ञः स्वारभटीं विधाय तिष्ठन्तं प्रतारकं धूर्तं श्रेष्ठिनमाश्रित्य शाल्मलिमाह। द्वितीयस्मिन् पक्षे स्वयमूह्यम्। सुगमत्वान्न व्याख्यायते ॥१८॥

ऊर्ध्वस्थितो हससि किं सुधियो गुणाढ्यान्
ऊर्ध्वस्थितेर्भवति नैव लघौ महत्त्वम् ।
पश्याद्रिशेखरगता किमु काकपंक्ति-
र्हंसात्कदाचिदपि पूज्यतरत्वमाप्ता ॥१६॥

कश्चित्साधुः मूर्खराजाश्रितं तदभिमानेन विद्वांसम् अनादृगन्तं सर्वश्रेष्ठं मन्यमानं हस्तिस्थत्वात् विदुषो भूमिचारिणो गर्वात् हसन्तं मूर्खंहंसकाक दृष्टान्तेनाह । सर्वं स्पष्टमेवेति न व्याख्यायते ॥१९॥

रे सारमेयक ! दृढं हरिचर्मनद्धः
सर्वाङ्गकेषु पिहितो विहितो मृगेन्द्रः ।
नीतोऽसि शैलमथ केसरभूषितश्च
घोरं करिष्यसि कथं मृगराजनादम् ॥२०॥

कश्चिद् केनापि विदुषा सह स्वाडम्बरं सर्वतो भावेन विधाय शास्त्रार्थं कर्तुंसमुद्यतं मूर्खमाश्रित्य कुक्कुरमाह । यद्वा युद्धोद्यतं वीरवेषं विधायोद्यतं कायरमाश्रित्य । अर्थः स्पष्ट एव ॥२०॥

रे निम्ब ! दुग्धमधुभिः परितर्पितोऽपि-
च्छागादिदृष्टिषु गतोऽपि सुरक्षितोऽसि ।
नैव त्वमेष विजहासि कटुस्वभावं
नीचो न मुञ्चति कदापि दुरात्मभावम् ॥२१॥

कश्चित् भोजनादिना तत्प्राणरक्षणेन च विहितोपकारिणम् उपकार-कर्तारं प्रत्येव दौरात्म्यमाचरन्तं खलमाश्रित्य निम्बमा । रे निम्बेति । छागादिदृष्टिषु गतोऽपि आदिपदात् अवीनां, क्रीडाप्रियाणां बालकानां च

ग्रहणम् सुरक्षितो ऽसि, आलवालनिर्माणेन बालानां प्रतिषेधेन च सुरक्षितः सर्वतो भावेन रक्षितः। अन्यथा तव नामापि नातिष्ठत्। एवं सत्यपि एषः प्रत्यक्षतया संमुखमेव स्थितस्त्वं कटुस्वभावं मय्यपि कटुतां न मुञ्चसि, युक्तमेवैतत्। नीचः अधमः कदापि प्राणरक्षायामपि कृतायाम् अन्योपकारस्य कथैव का' दुरात्मभावं दौरात्म्यं न मुञ्चति नैव त्यजतीति भावः ।।२०।।

अथ स्वागताच्छन्दोभिरन्योक्तिदशकमाह।

देवदुन्दुभिरवात् किमु जातं यद् ब्रवीषि करुणं बहुखिन्नः।
सारमेय! तव कौलनिसर्गो यत्परोदयगतौ परिखिन्ते ।।२२।।

कश्चित् कस्यचिदप्युन्नतौ खिद्यमानं परसंतापिनमाश्रित्य कुक्कुरमाह। देवदुन्दुभीति। एष खलु कुक्कुराणां स्वभाव एव भवति, यत् सायं देवपूजावसरे दुन्दुभिध्वानमाकर्ण्य श्वानः रुदन्ति। परसंतापिनामप्येष स्वभावो भवति यत्कस्यचिदपि समुन्नतिमवलोक्य परिखन्दते ।।२२।।

किं पदेषु पतितोऽसि विलुण्ठन् स्वोदरं बहुतरं दर्शयसे,
पश्य कुकुर! न भाग्यविधेस्ते किञ्चिदप्यधिकमेष विधत्ते

कश्चिद् याचको धनिकं बहूपायेन कथयन् गिडगिडायमानो धनं याचते तमेवाश्रित्य कुक्कुरं कथयति, रे कुक्कुर! पश्य मनसा भावय, एष धनिकः ते तव भाग्यविधेः भाग्यविधानात् किञ्चिदप्यधिकं न करोति, यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः इत्याशयः ।।२३।।

हन्त! दन्तिमृगदंशकभेदं भावयस्व मनसा परिचिन्त्य।
अत्ति चाटुकृतिभिर्ननु दन्ती रीढयैव लभते तु तदन्यः ।।२४।।

ऊर्ध्वस्थितो हससि किं सुधियो गुणाढ्यान्
ऊर्ध्वस्थितेर्भवति नैव लघौ महत्त्वम् ।
पश्याद्रिशेखरगता किमु काकपंक्ति-
र्हंसात्कदाचिदपि पूज्यतरत्वमाप्ता ॥१९॥

कश्चित्साधुः मूर्खराजाश्रितं तदभिमानेन विद्वांसम् अनादृतन्तं सर्वश्रेष्ठं मन्यमानं हस्तिस्थत्वात् विदुषो भूमिचारिणो गर्वात् हसन्तं मूर्खहंसकाक दृष्टान्तेनाह । सर्वं स्पष्टमेवेति न व्याख्यायते ॥१९॥

रे सारमेयक ! दृढं हरिचर्मनद्धः
सर्वाङ्गकेषु पिहितो विहितो मृगेन्द्रः ।
नीतोऽसि शैलमथ केसरभूषितश्च
घोरं करिष्यसि कथं मृगराजनादम् ॥२०॥

कश्चिद् केनापि विदुषा सह स्वाडम्बरं सर्वतो भावेन विधाय शास्त्रार्थं कर्तुंसमुद्यतं मूर्खमाश्रित्य कुक्कुरमाह । यद्वा युद्धोद्यतं वीरवेषं विधायोद्यतं कायरमाश्रित्य । अर्थः स्पष्ट एव ॥२०॥

रे निम्ब ! दुग्धमधुभिः परितर्पितोऽपि-
च्छागादिदृष्टिषु गतोऽपि सुरक्षितोऽसि ।
नैव त्वमेष विजहासि कटुस्वभावं
नीचो न मुञ्चति कदापि दुरात्मभावम् ॥२१॥

कश्चित् भोजनादिना तत्प्राणरक्षणेन च विहितोपकारिणम् उपकार-कर्तारं प्रत्येव दौरात्म्यमाचरन्तं खलमाश्रित्य निम्बमा । रे निम्बेति । छागादिदृष्टिषु गतोऽपि आदिपदात् अवीनां, क्रीडाप्रियाणां बालकानां च

ग्रहणम् सुरक्षितो ऽसि, आलवालनिर्माणेन बालानां प्रतिषेधेन च सुरक्षितः सर्वतो भावेन रक्षितः। अन्यथा तव नामापि नातिष्ठत्। एवं सत्यपि एषः प्रत्यक्षतया संमुखमेव स्थितस्त्वं कटुस्वभावं मय्यपि कटुतां न मुञ्चसि, युक्तमेवैतत्। नीचः अधमः कदापि प्राणरक्षायामपि कृतायाम् अन्योपकारस्य कथैव का' दुरात्मभावं दौरात्म्यं न मुञ्चति नैव त्यजतीति भावः ॥२०॥

अथ स्वागताच्छन्दोभिरन्योक्तिदशकमाह।

देवदुन्दुभिरवात् किमु जातं यद् ब्रवीषि करुणं बहुखिन्नः।
सारमेय! तव कौलनिसर्गौ यत्परोदयगतौ परिखिन्ते ॥२२॥

कश्चित् कस्यचिदप्युन्नतौ खिद्यमानं परसंतापिनमाश्रित्य कुक्कुरमाह। देवदुन्दुभीति। एष खलु कुक्कुराणां स्वभाव एव भवति, यत् सायं देवपूजावसरे दुन्दुभिध्वानमाकर्ण्य श्वानः रुदन्ति। परसंतापिनामप्येष स्वभावो भवति यत्कस्यचिदपि समुन्नतिमवलोक्य परिखन्दते ॥२२॥

किं पदेषु पतितोऽसि विलुण्ठन् स्वोदरं बहुतरं दर्शयसे,
पश्य कुकुर! न भाग्यविधेस्ते किञ्चिदप्यधिकमेष विधत्ते

कश्चिद् याचको धनिकं बहूपायेन कथयन् गिडगिडायमानो धनं याचते तमेवाश्रित्य कुक्कुरं कथयति, रे कुक्कुर! पश्य मनसा भावय, एष धनिकः ते तव भाग्यविधेः भाग्यविधानात् किञ्चिदप्यधिकं न करोति, यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः इत्याशयः ॥२३॥

हन्त! दन्तिमृगदंशकभेदं भावयस्व मनसा परिचिन्त्य।
अत्ति चाटुकृतिभिर्ननु दन्ती रीढयैव लभते तु तदन्यः ॥२४॥

कश्चिद् विद्वान् मण्डलेश्वरेभ्यः संप्रदायाचार्येभ्यश्च सानुनयं प्रदीयमानं धनमवलोक्य मह्यं कथं न दीयते इति चिन्तयन्तं स्वमित्रं साधुमाह। हन्तेति हन्त इति खेदे। दन्तिशुनकयोर्भेदं परिचिन्त्य मनसा चेतसा भावयस्व भेदभावनायाः कारणं निश्चिनु, दन्ती गजः चाटुकृतिभिर्विधीयमानैःचाटुकारैः 'भुङ्क्ते'। ननु 'निश्चये'। तदन्यः मृगदंशकः श्वा लभते तु परन्तु रीढयैव अनादरेणैव। इति तथाभूतस्थानेषूत्पत्तेः तथा लाभ इति खेदं जहीहीति भावः ॥२४॥

बालिशान्नृपतिहस्तिनि दृष्ट्वा मा विधा हृदि सुधीवर! खेदम्
पूर्वजन्मविहितस्य फलं तत् संगतं न नृपतेरविवेकः ॥२५॥

कमपि मूर्खं नृपतिहस्तिनि निषण्णं दृष्ट्वा नृपतेरविवेकं मत्वा खिद्यमानं मित्रमाह। तत् पूर्वजन्मविहितस्य फलं संगतम्, नृपतेः अविवेको नास्तीति भावः ॥२५॥

काक! मा ऽनुकुरु हंसगतिं ते यत्तथानुकृतितः पदयुग्मम्।
भेदमाप्स्यति मृतोऽपि भवेस्त्वं यद् गुरोरनुकृतिर्बहुदोषा ॥२६॥

गुरोर्गमनानुकृतिं कुर्वन्तं दुष्टच्छात्रमुद्दिश्य काकमाह। अर्थः सुस्पष्ट एव ॥२६॥

पश्य कीर! सुमनोहरवाचां भाषणस्य पठनस्य फलं ते।
यत्कुटुम्बिभिरहो परिमुक्तो गाढपञ्जरगतो भृतिमाप्तः ॥२७॥

कमपि वैदेशिकं विद्वांसं चिरकालाद् राजगृहे विद्यमानं, शोभनवेतन-मापन्नमपि कुटुम्बपरिमुक्तमिव स्थितमुद्दिश्य शुकमाह। हे कीर! पश्य अव-लोकय ते तव सुमनोहरवाचां भाषणस्य उक्तिमाधुर्यस्य पठनस्य फलम् यत् यस्मात् त्वम् अहो खेदाद् ब्रवीमि कुटुम्बिभिः परिमुक्तः, त्यक्त इव

एकाकी स्थितः, गाढपञ्जरगतः कारागारे गृहीत इव भृतिम् आप्तः प्राप्तः ॥२७॥

पादप ! त्वमसि साधुगुणाढ्य-
स्ताडितोऽपि सुफलानि च दत्से ।
छायया पथिकदुःखनिवृत्त्यै
मूर्ध्नि यद् वहसि घर्म सदैव ॥२८॥

तिरस्कृतोऽपि कश्चित् तिरस्कारकर्तारमुपकरोतीति तमाश्रित्य फलवन्तं पादपमाह । हे पादप ! त्वं साधुगुणैः आढ्यः धनिकः श्रेष्ठः बहुतर-समीचीनगुणयुक्तोऽसि, ताडितोऽपि सुफलानि च दत्से । अपि च छायया पथिकदुःखनिवृत्त्यै सदैव मूर्ध्नि स्वस्योपरिभागे घर्म वहसि इति कृत्वा साधु-गुणाढ्योऽसीत्यर्थः ॥२८॥

शर्करा प्रतिपदं तव जग्धिः
पत्रमेव वसनं परिधत्से ।
सर्वदा सहचरी वनिता ते
कः कपोत ! सुसुखी भवतोऽन्यः ॥२९॥

सस्त्रीकं संतोषिणं कमप्याश्रित्य कलरवमाह, तव जग्धिः भोजनं शर्करा सिकता प्रतिपदम् सर्वत्रैवास्तीति सुलभा, पत्रं पक्षमेव वसनं परिधत्से नास्ति परतो वस्त्रयाचनस्यावश्यकता । अपि च वनिता स्त्री ते तव सर्वदा सहचरीं, सहगामिनी । एवं सर्ववस्तूनां स्वाधीनत्वात्, हे कपोत ! भवतः अन्यः सुसुखी कोऽस्ति । सकलावश्यकवस्तुस्वाधीनः न कोऽपीत्यर्थः । द्वितीयपक्षे संतोषत्वान्समाधेयम् ॥२९॥

रे प्रियालवसनं परिधाय स्वाकृतिं च सदृशीमथ नीत्वा ।
राजमन्दिरगतेः परिमुक्तो निम्ब ! काककुलमेव गतस्तत् ॥

कमपि दीर्घतममुष्णीषं विधाय चन्दनादिना स्वाकृतिं महापण्डितसदृशीं नीत्वा राजसभायां गतः बुधजनैर्मुक्तस्तिरस्कृतः, तमाश्रित्य निम्बमाह। निम्बफलमाकृत्या पीतस्वरूपतश्च प्रियाल (खिन्नी) सदृशमेव भवति तदेवोपेत्याह। रे इति नीचामन्त्रणे। रे नीच ! प्रियालवसनं पीतवर्णं प्रियालवस्त्रं परिधाय, अथ स्वाकृतिं सर्वतो भावेन च तन्तुल्याकारां नीत्वा राजमन्दिरमगमत्। अहमपि राजादनम् राजभोजनमस्मि। अथ परिभुक्तः परीक्ष्य भुक्तः तिरस्कृतः। तत् तस्मात् कारणात् हे निम्ब। काककुलमेव तेषामशुचिभोज्यत्वात् तदेव कुलं गतः। तथाभूतः पण्डितोऽपि तन्मुक्तः तथा भूतमेव कुलं गत इति भावः ॥३०॥

पश्य पश्य परितोऽग्निसमूहं ज्वालयन् वसुगतानयनाय।
निग्रहग्रहणके धृतमालश्चेतसाऽतिमलिनो नु वकोऽयम्॥३१॥

विविधवेषेण दम्भक्रियया दम्भिनः सरलान्निगृह्णन्तीति स्वमित्रं कश्चिद् वक्ति। धनिकप्रत्ययार्थं पञ्चाग्निसेवनदम्भिनं दर्शयति। पश्य पश्य ससंभ्रमेण निर्वचने क्रियाया द्वित्वम्। परितः चतुर्दिक्षु अग्निसमूहं ज्वालयन् पञ्चाग्निसेवनप्रकार एवायम्, पूर्वादिचतुर्दिक्षु अग्निं प्रज्वाल्य पञ्चममग्निं सूर्यं मत्वा निरावृते प्रदेशे वैशाखे ज्येष्ठे च तिष्ठति, इति निग्रहग्रहणे निग्रहस्थाने ग्रहणे वसुगतानयनाय वसुगतानां धनिकानाम् आनयनाय धनिकान् जाले निग्रहीतुं धृतमालः चेतसा अतिमलिनः अयं वकः नु। यथा वकः शान्तवृत्त्या स्थितः मत्स्यान् गृह्णाति तथैवायं धनिकान् निग्रहस्थाने नीत्वा तान् एकवसनान् विधाय यथाभिलषितं यथायोग्यं धनं चानाय्य मुञ्चति॥३१॥

मन्दाक्रान्तामाह—

मत्तो ध्वान्ते तमसि सरणौ दुर्गमाद्रेः प्रयातो
दैवात्कश्चित्सुहृदयवरः प्राप्तवान् सप्रदीपः।

यादृक् सौख्यं प्रभवति, ततो नैव तच्चाह्निभानोः
प्राणापत्तावणुरपि महान् जायते तूपकारः ॥३२॥

अतिबुभुक्षया म्रियमाणं कञ्चन दीनं कश्चित् द्वित्रदिवसं प्रसृतिमात्रं प्रत्यहमन्नदानेन उदजीवयत्, तेन योऽभवदुपकारः स सुभिक्षे बहुदानेनापि न भवतीत्याश्रित्य अद्रौ दीपदृष्टान्तेनाह, कश्चिन्मत्तः मद्यमदयुक्तः ध्वान्ते गाढान्धकारे तमसि दुर्गमाद्रे दुर्गमपर्वतस्य सरणौ मार्गे प्रयातः पर्वते तमसि मार्गानुपलब्धेः, तत्रैव स्थितौ व्याघ्रभल्लूकादिभिः प्राणभयम् । दैवात् शुभ-प्रारब्धोदयात् कश्चित् सुहृदयवरः शोभनान्तः करणश्रेष्ठः सप्रदीपः प्रज्वलित-दीपसहितः प्राप्तवान्, ततः तत्प्रदीपात् यादृक् सौख्यं प्रभवति जायते तत् तथाभूतं सौख्यम् अह्नि दिवसि भानोः नैव जायते. दीपापेक्षया सूर्यस्य प्रखर-प्रकाशेऽपि तत्सौख्यं नैव जायते, तदेव समर्थयति । प्राणापत्तौ प्राणेषु संकटावस्थामापन्नेषु अणुरपि उपकारः महान् जायते, तदुक्तिरेवान्योक्तिः स्वमित्रं प्रतीति भावः ॥३२॥

शार्दूलविक्रीडितेनाह—

स्वामी नैव निरीक्षते मधुरसा शुष्का फलग्राहिणी
मार्तण्डैर्भुवने विशोषणगते क्लिष्टे च चम्पादिके ।
तावत् स्फूर्तिमाचरन् क्वचिदसौ धाराधरो वारिदः
सर्वान् साध्वमृतान्यपाययदलं मन्ये विधातुः कृपाम् ॥३३॥

ग्रीष्मे शोषणमुपगते भुवने कृषकगणे व्याकुले इक्षौ शुष्यमाणे चम्पादि-कमाश्रित्याह कश्चित् । मधुरसा द्राक्षा फलग्राहिणी फलग्रहणोन्मुखा सती शुष्का स्वामी प्रभुः, मालाकारो वा नैव निरीक्षते नैव पश्यति, मार्तण्डैः मिलित्वैव आगतैर्द्वादशसूर्यैः, पूज्यत्वाद् वा बहुवचनम्, उग्रत्वाद् वा तथा कल्पनम् । भुवने विशेषणगते सति विशोषिते सति एभिरित्यर्थः । चम्पादिके

च आदिपदाद् मालती-यूथी-वकुलानां ग्रहणम् क्लिष्टे शोषोन्मुखं गच्छति सति तावत् क्वचित् फूर्जति वज्रनिर्घोषमाचरन् असौ धाराधरः वारिदः धारारूपेण वर्षन् जलदो मेघः साधु शोभनं यथास्यात्तथा अमृतैः जलैः सर्वान् अलं पर्याप्तम् अपाययत्, धातुः ब्रह्मणः परमात्मनः कृपां मन्ये येन सर्वे सुखिनो याताः कमपि कस्यचिदुक्तिस्तत्संतोषार्थम् ॥३३॥

मत्ता यत्र मतंगजा विदधिरे चीत्कारघोरध्वनिं
गन्धर्वाश्च दिवानिशं मृदुतरं हेषारवं चक्रिरे ।
द्वारं भूरिगजेन्द्रमौक्तिकचयैर्व्याप्तं रराजेतरां
सर्वं तत्प्रलयं गतं विधिवशात् फेरुध्वनिः श्रूयते ॥३४॥

कमपि धनिकं दैवयोगादनुपपन्नावस्थमाश्रित्य त्यक्तराज्यं राजस्थानमवलोक्य तत्पूर्वविभवपुरःसरं तद् वर्णयति । सर्वं सुगमम् । नवरम् मतंगजाः हस्तिनः "मतंगजो गजो नागः इत्यमरः वाजिवाहार्वगन्धर्व" इति "अश्वानां हेषा ह्रेषा च निःस्वनः" इति फेरुफेरवजम्बुकाः" इति चामराः ॥३४॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह—

काम्बोजा यवनाश्च योद्धृनिवहा मल्ला भटा वर्मिणो
याष्टीका अपि धन्विनश्च गजता स्वाभ्यासमातेनिरे ।
भूपालाः सतशश्च रत्ननिचयैर्मुक्ताफलैर्भेजिरे
सर्वं राज्ञि दिवंगते ऽल्पदिवसैः फेरुश्रवः श्रूयते ॥३५॥

सर्वं सुगमम् । मल्लाः मुष्ट्या योद्धारः वर्मिणः कवचिनः असिभिर्योद्धारः तत्र शरीररक्षार्थं वर्मण आवश्यकत्वात् । अन्यत् स्पष्टमेव ॥३५॥

मालाभृन्निखिले महीरुहगणे साम्यं दधानो धिया
वासन्तीं नवयौवनां करुणया दृष्ट्या न चालोकते,

किन्तु स्वैर्विकसत्प्रसूननिकरामोदैः समापूर्णया
भृङ्गाणां ध्वनिभिर्दिशासु सुयशो विश्वग्वितेनेऽनया ॥३६॥

गुरुः सर्वान् छात्रान् समभावेन पाठयन् कुशाग्रधियं पाठितसर्वशास्त्रं गृहीतरहस्यं यशः प्रसारकं छात्रं विशिष्टबुद्ध्या नेक्षते इत्याश्रित्य वासन्तीं वर्णयति—स्वैः स्वकीयैः विकसत्प्रसूननिकरामोदैः समापूर्णया अनया विश्वक् सर्वतो दिशासु सुयशो वितेने विस्तीर्णम् । अन्यत् सुगमम् ॥३६॥

कासारे जननं सदा हरिशये वासस्तवैव श्रुतो
लक्ष्म्याः क्रीडनकं त्वमेव विबुधानन्दप्रदामोदकृत् ।
सौन्दर्यं ललितं तुषारमतुलं हृद्यं विधत्ते नृणां
हंसैश्चापि सहास्ति ते समुषितं किं स्यादितोऽप्युन्नतम् ॥३७॥

कमपि सर्वतः समुन्नतं सुप्रसन्नमाश्रित्य तथाभूतं पद्मं वर्णयति । हरिशवे हरिहस्ते । विबुधानां देवानाम्, आनन्दप्रदं च तत् आमोदकृत्, विबुधानन्दप्रदामादोदकृत् । समुषितं संवासः "वसतिक्षुधोरिट्" इतीटि संप्रसारणे षत्वे उषितम् । किं स्यादितोऽप्युन्नतम् । सर्वथास्ति ते समुन्नतिरिति भावः॥

रम्भाया जनको हरेश्च भवनं लक्ष्मीसुधाभूः स्मृत-
स्तीरे ते पतितोऽस्ति रत्ननिचयः सूर्यप्रभाभासुरः ।
सर्वं साधु परिस्फुरत्यपि तटे किन्तूदकस्यार्थिनां
वक्त्रे याति न पुष्करं किमु तथाभूतैर्गुणानां गणैः ॥३७॥

अलौकिकरत्नादिसमृद्धिसम्पन्नं रजतमयगृहविराजमानमतिकृपणं तृषितेभ्यो जलमप्यददतमाश्रित्य समुद्रमाह—लक्ष्मीसुधयोर्भूः । क्षारत्वाद् वक्त्रे मुखे न याति, अन्यत्र कृपणत्वाद् जलमपि न पाययत्येवेति । अन्यत्सुगमम् ॥३७॥

त्वं पद्माकर ! पूरितोऽसि वसुना सत्पक्षिभिः संगतः
संपत्त्या शतपत्रकस्य परितो व्याप्तो दरीदृश्यसे ।
यद्यद्यापि न चार्थिनां शमयसे तृष्णाकुलानां स्पृहां
तत्किं भास्करशोषितः क्षितिगतः क्षीणोऽपि विध्मास्यति॥ ३८॥

कश्चिद् विद्वान् कमपि धनिकं प्रतिबोधयति, त्वमिदानीं सम्पन्नो धन-समृद्धो विलोक्यसे इत्यर्थिनामभिलाषां पूरय । यदि तेषां स्पृहां समृद्धिस्थितौ न शमयसे, तत्किं राज्ञा गृहीतायां सम्पत्तौ क्षीणविभवः स्पृहां पूरयिष्यसि ? पश्य कांग्रेसेन राज्ञां राज्यं गृहीतम्, भूम्याधिपत्यं विनष्टमित्याश्रित्य तडागमाह—भो पद्माकर ! त्वं वसुना जलेन, अन्यत्र धनेन ("वसु तोयधने मणौ" इति यादवः,) पूरितः, पूर्णः असि । सत्पक्षिभिः हंसचक्रवाकादिभिः, अन्यत्र सद्भिः विद्वद्भिः वा पक्षिभिः पक्षावलम्बिभिः संगतः युक्तोऽसि । शतपत्रकस्य कुशेशयस्य कमलविशेषस्य "सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्" इत्यमरः । अन्यत्र व्यापारेण शतसंख्याकपत्रस्य जातित्वादेकवचनम् । संपत्त्या श्रिया शोभया, अन्यत्र लक्ष्म्या परितो व्याप्तो दरीदृश्यसे; यदि अद्यापि संपत्तियुक्तावस्थायामपि तृष्णाकुलानां पिपासाकुलानाम् अभिलाषायुक्तानामर्थिनां याचकानां च स्पृहां पिपासाम्, अन्यत्र वाञ्छां न शमयसे, तत् किं भास्करशोषितः गृहीतसर्वस्वः क्षीणोऽपि नष्टप्रायः, अन्यत्र अल्पविभवः, क्षितिगतः पृथिव्या अन्तर्गतः, उपरि सर्वथा जलस्यादर्शनात्, अन्यत्र क्षितौ आस्तरणरहितायामेव भूमौ गतः विध्मास्यसि ? तदानीं क्षीणावस्थायां सर्वथा द्रव्यस्य अभावात्, अशक्यत्वाच्चेदानीमेव याचकानां स्पृहां शमयेति भावः ॥३८॥

वासन्ते समये सुपुष्पनिकरे श्लिष्टाऽम्रजा मञ्जरी
तत्रैव भ्रमता त्वया निवसता कालो बहुर्वाहितः।
सा चेदद्य मदोज्ञगन्धविधुरा याताऽथ तां मुञ्चसे
धिक् त्वां तञ्चलचञ्चरीक! भवतः श्यामानुकूला कृतिः॥३९॥

कश्चित् पाणिगृहीतां भार्यामादाय बहुकालमुषित्वा प्रगाढतारुण्यविरहिता-मरजस्कामवलोक्य अन्यामभिलषन्तं धिक्क्रियमाणमाश्रित्य, भ्रमरं वर्णयति। हे भ्रमर ! त्वया वासन्ते समये वसन्ततौं वैवाहिके समये सुपुष्पनिकरे स्वसजा-तीयसमूहे आम्रजा मञ्जरी श्लिष्टा, अन्यत्र उत्तमकुलोत्पन्ना कन्या स्वीकृता, तत्रैव भ्रमता निवसता त्वया बहुः कालः वाहितः नीतः, सा चेत् अद्य मनोज्ञगन्धेन विधुरा रहिता याता आसीत्। अथ त्वं तां निरपराधां मुञ्चसे तत् तस्मात् त्वां धिग् धिक्कृतिः। रे चलचञ्चरीक ! बह्वीषु गमनशील ! भवतः अनुकूला श्यामाकृतिः स्वरूपानुरूपा श्यामाकृतिरित्यर्थः। स्त्रीपरित्यागिनं त्वां धिगिति भावः ॥३९॥

मा नागेन्द्र! चरेरिहैव विपिने घोरे मृगेन्द्रावृते
दन्तिभ्रान्तधिया खरैश्च नखरैर्दीर्घं शिलानां चयम्।
उत्पाद्यातिरुषा पुनः पुनरमुं दृष्ट्वा त्यजन् गह्वरे
सुप्तोऽसौ क्षुधितो युवाऽतिबलभृद् दूरे ततो गम्यताम्॥४०॥

दिग्विजयमाचरन् कश्चिद् राजा कुत्रचिन्नगरे स्थितस्तत्रैवागतं वैदेशिकं राजानमाश्रित्य गजं प्रति कथयति। सर्वं सुगमम्। अतिबलभृत् बलिष्ठः, बृहत्सेनायुक्तश्च। ततः दूरे गम्यताम्, अन्यथा इहैव गृहीतो भविष्यतीति भावः ॥४०॥

अथ वसन्ततिलकयैकादशकमाह—

चामीकरस्य खलु गौरगुणं समेत्य
त्रैलोक्यमल्पमवगत्य दधासि गर्वम् ।
रीते ! यदैव निकषे विदुषा निघृष्टा
श्यामं वमन्त्यणुक एव पदे तदा स्याः ॥४२॥

गृहीताल्पविद्यं कञ्चित् स्वाभिमानेन विद्वद्गणमनादृणानमाश्रित्य रीतिं पित्तलम् आह—चामीकरस्य स्वर्णस्य । गौरगुणं पीतगुणं समेत्येत्यादि स्पष्टम् । "पीतो गौरो हरिद्राभः" इत्यमरः । विदुषा निघृष्टा स्यामवर्णां रेखां यदा त्यक्ष्यसि, तदा अणुके एव अत्यल्पे एव पदे स्याः, अतिलघुतां प्राप्स्यसि ॥४२॥

रे त्र्यम्बकादुपगतोऽसि धनाधिपत्वं
त्वं नैव पश्यसि निजप्रतिवेशिनं तम् ।
भिक्षाटनं विदधतं वसनेन हीनं
नूनं कृतघ्नतनयो जनिरन्यतो वा ॥४३॥

कमपि कृतघ्नमाश्रित्य कुबेरमाह—नूनं निश्चयेन कृतघ्नस्य तनयः, अन्यतो वा अन्यस्माद् जनिः वर्णसङ्करो वा; वर्णसङ्करः कृतघ्नो भवतीति प्रसिद्धम् ॥४३॥

रे चन्द्र मा पत विभाकरपादपद्मे
प्रत्यर्थिनोऽस्य निकृतिं परिभावयेथाः ।
यस्ते समस्तविभवं ससखस्य तूर्णं
दृष्ट्वैव नाशयति किं तदुपासनेन ॥४४॥

कमपि क्रूरशत्रोरुपासनोन्मुखमाश्रित्य चन्द्रमसमाह—यः ससखस्य तारा-ग्रहगणादियुक्तस्य ते तव समस्तं विभवं तूर्णं दृष्ट्वैव व्यापारान्तराभावेऽपि

नाशयति तदुपासनेन किम् ? न किमपि एतादृशस्योपासनेन सेत्स्यतीति भावः ॥४४॥

लब्धं घुणाक्षरनयेन पदं त्वयैकं
तेनैव धिग् गुणिगणाग्र्यभवं वदन्तम् ।
विद्वत्समाजचरणेषु यदा गतः स्याः
सर्वोऽपि नङ्क्ष्यति तदाग्र्यभवोऽभिमानः ॥४५॥

गुरुसेवां विना कुतोऽपि लब्धैकपदेनात्मानं सर्वश्रेष्ठं वदन्तं मूर्खमुपलक्ष्याह—लब्धमिति । यथा वस्त्रे काष्ठे वा घुणव्यापारेण आपाततः अक्षरमुत्पद्यते, तत्प्रकारेण कुतोऽप्येकं पदम्, एकमेव सूत्रन्यासं प्राप्य गुणिगणेभ्यः श्रेष्ठं वदन्तं धिक् । "उभसर्वतसो०" इति धिग्योगे द्वितीया । यदा त्वं विद्वत्समाज-चरणेषु गतः स्याः, तदा तदुत्तरं प्राप्य सर्वोऽपि अग्र्यभवोऽभिमानः सर्वश्रेष्ठत्वा-भिमानो नङ्क्ष्यति ॥४५॥

रे मूर्ख ! मूषक ! कुसूलविदारणेन
प्राप्तोऽसि लौहगृहमध्यगतिं सुबद्धः ।
विद्यावतां च सुकुले जनितोऽसि धीमान्
भूयोऽपि मा प्रिय चरीः कृतिमीदृशीं ! त्वम् ॥४६॥

कश्चिच्चौर्यकरणेन गृहीतं कारागारे निबद्धं विद्वांसं स्वमित्रमुपलक्ष्य मूषकं कथयति । सर्वं सुस्पष्टमेवेति न व्याख्यायते ॥४६॥

पाटीर ! तिष्ठसि सदा मलयाद्रिकोणे
विष्वक् सृतैः फणधरैश्च सुरक्षितोऽसि ।

किं त्वेष खाण्डवनटो ज्वलनो मनो मे
भीतिं परां जनयते परतो न किञ्चित् ॥४७॥

कश्चित् पण्डितो विषधरैरिव भटैः सुरक्षितं प्रान्ततो वृते प्राकारे स्थितं मित्रं राजानं प्रति महायोद्धू राज्ञो भीतिं दर्शयन् चन्दनमाह—भो पाटीर ! सदा त्वं मलयाद्रिकोणे साधारणपुरुषैरगम्ये स्थाने तिष्ठसि । अथ च विष्वक् सृतैः सर्वतः प्रसृतैः फणधरैः फणिभिः कृष्णसर्पैः सुरक्षितः असि, किन्तु एषः खाण्डवनटः खाण्डववने नृत्यन् सर्वतो भावेन दाहयन् ज्वलनः अग्निः मे मम मनः मानसं परां भीतिं जनयते । परतः अन्यस्मात् किञ्चिद् न, नान्येन द्रष्टुमपि शक्यः । छेदादिभीतेः कथैव नास्तीति भावः ॥४७॥

दावानलोद्भवविशालकदम्बकैस्तान्
दग्धान्महीरुहगणान् लतिकाविहीनान् ।
मुक्त्वा क्षिपस्यमृतमब्धिषु शैलमूर्ध्नि
न्यायः किमेष हंकृतिजोऽस्ति योग्यः ॥४८॥

कश्चिद् धनिकः अकालपीडितान् विदुषः, अन्नवस्त्ररहितान् दरिद्रांश्च विहाय सुखिभ्यो धनिकेभयश्च ददतीति, तमुपलक्ष्य मेघं कथयति—दावानलेति । "दवदावो वनारण्ये" इत्यमरः । लतिकेति । "वल्ली तु व्रततिर्लता" लतिकेति स्वार्थे कप्रत्ययः । "पयः कीलालममृतम्" इति चामरः । किं हंकृतिजः स्वेच्छाचाराभिमानसमुत्पन्नः एष न्यायः योग्यः अस्ति ? नायं न्यायः इति, नैवैतद्योग्यम्; यतो गीतायामुक्तम्—

"दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ इति ॥४८॥

मा त्वं वृथा परिभवेरहमेव लोके
विश्वासघातकुशलोऽपघृणो न चान्यः ।
सन्त्येव किन्तु नृपवेश्मनि तीर्थभूमौ
विश्वास्य ये सुजनमाशु हरन्ति दुष्टाः ॥४६॥

कमपि स्वकीयेन विश्वासघातकर्मणा मनसि परितप्यमानं कश्चिदाह—नैकस्त्वमेव विश्वासकुशलः, किन्तु राजगृहे तीर्थस्थानेषु च बहवः सन्ति, ये दुष्टाः सुजनमाशु विश्वास्य हरन्ति । नाशयन्तीत्यर्थः ॥४९॥

सन्तश्चरन्त्यविहिता भुवनस्य सौख्यं
लोकान् पृणन्त्यकथिता जलदाः पयोभिः ।
अप्रार्थितो दिनकरः स्वकरैरुदारै-
र्वाढं विकाशयति पद्मकुलं च लोकम् ॥५०॥

कश्चित् कमपि उपदिशति । त्वमप्रार्थित एव योग्यस्थानमवलोक्य दानं विधेहि इति । तथाकारिणः कथयति, अविहिताः अप्रेरिता एव । अन्यत् स्पष्टम् ॥५०॥

दुष्टं सदा परिहरेदपि साधुविद्यं
सर्पं महामणिविभूषितमुत्तमाङ्गे ।
सर्पो यथोज्झति विषं स्वविभौ पयोदे
दुष्टस्तथैव कुरुते खलतां स्वराजे ॥५१॥

कश्चिद् प्रकृत्या मिथ्याभाषणेन स्त्रीपुंसयोरपि विरोधकारिणं सद्विद्यं दुष्टं स्वाश्रयदानोन्मुखं राजानमाह—यथा सर्पः पयोदेऽपि स्वविभौ विषं मुञ्चति, न किञ्चिदपि पालनपोषणपरिज्ञानं करोति, तथैव दुष्टः आत्मरक्षकेऽपि

राज्ञि स्वकीयदुष्टस्वभावात् खलतां विदधात्येव । यतः "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति", "स्वभावो दुरतिक्रमः" इति स्वभावान्निजहानिमपि नासौ पश्यतीति न संग्राह्यः ॥५१॥

वैदुष्यमेव परिहृत्य यदर्थमेवं
वन्दित्वमाकलयता सुपदेऽपि नीतः ।
पूर्वोपकारविहितं सकलं निगीर्य
द्वेषं करोति स खलः कथयामि कस्मै ॥५२॥

कश्चित् स्वकीयं मित्रं छात्रं वा राज्ञः सविधे स्वपाण्डित्यं सदसन्निर्णयात्मकं कार्यं चापहाय तयोः प्रशंसया राज्ञो यशोवर्णनवन्दित्वं च स्वीकृत्य राज्ञः प्रसादेन समुन्नते स्थाने नीतः, अथेदानीं स खलः मत्कृतं सकलमपि पौर्व-कालिकोपकारं निगीर्य द्वेषं करोति, कस्मै कथयामि; स्वकृते अविचारिते कार्ये नान्यः कश्चिदप्युपालभ्यः ॥५२॥

वंशस्थेन इन्द्रवंशेनोपजात्या चाह यावत्—

न मालिकः पश्यति यूथिकामिमां
स्वकीयसौरभ्यगुणेन भूतले ।
दिशासु सर्वासु यशः प्रशस्तिकां
तनोति या भृङ्गगणैरुदीरिताम् ॥५३॥

कश्चित् स्वपालितां कामपि विदुषीं सस्नेहं तद्वैदुष्यमनिरीक्ष्यमाणः, सा स्वकीयप्रौढपाण्डित्येन तद्यशः प्रास्तारयद् इत्याश्रित्य मालिकयूथिकयोः कृत्यमाह । "मालकारस्तु मालिकः" इत्यमरः । अन्यत्सर्वं सुगमम् ॥५३॥

वासन्तिकेयं मधुलिङ्गणैर्यशः
करोति कूजद्भिरलं प्रसारितम् ।
अथापराश्चम्पकजातिवञ्जुला
विचित्रगन्धं परितो वितेनिरे ॥५४॥

एकया विहितं यशःप्रसारणं मिलित्वा अपरैः परितो विस्तीर्णमित्याश्रित्याह । इयं वासन्तिका यशः कूजद्भिः उच्चस्वरेण स्तुवद्भिः कथयद्भिर्गायद्भिर्वा अलं पर्याप्तं प्रसारितं विस्तारितं करोति । वकुलो वञ्जुलोऽशोके । उत्तरार्द्धं स्पष्टमेव । संहतिः कार्यसाधिकेत्याशयः ॥५४॥

न्यग्रोध ! पातालगतास्तवाङ्घ्रयः
शाखाशतं मांसलताऽतिशायिनी ।
वासो महीध्रे न कुतोऽपि ते भयं
किन्त्वेष दावो व्यथते स्मृतौ मनः ॥५५॥

सर्वथा सुरक्षितं शतचारं राजानमुपलक्ष्य आकस्मिकं भयमाश्रित्याह । "दवदावो वनारण्ये" इत्यमरः । अन्यत् सुस्पष्टमेव ॥५५॥

विशालकायानि शुचौ सुदुःखितै-
र्दिनानि नीतानि तृषाकुलास्मकैः ।
मृषैव किं तोषकरातिगर्जितैः
सुवर्षणाडम्बर एष नीयते ॥५६॥

विविधभाषणैर्मिथ्यैव तोषमापादयतो राजकर्मचारिणः अतिमहर्घतापीडिता जनता वदतीत्याश्रित्य चातकानामुक्तिः । शुचौ आषाढे । "ज्येष्ठे शुक्रः शुचि स्त्वयम् । आषाढे श्रावणे तु स्यान्नभाः श्रावणिकश्च सः" इत्यमरः । अन्यत्सुगमम् ॥५६॥

पुरन्दरोद्यानगते महीरुहे
घ्रात्वोज्झितं पुष्परजः सुगन्धितम् ।
येनैव सोऽयं तव सन्निधौ गतो
विमुच्य कार्पण्यमसौ सुपूज्यताम् ॥५७॥

कश्चिन्महाप्रभावशाली सुयोग्यः सर्वशास्त्रवेत्ता विद्वान् महाराजाश्रित आसीत्, सर्वविधसुखमुपभुज्य तं मुक्त्वा साधारणराजमागतः। तदेवाश्रित्य समागतं भ्रमरमुपलक्ष्य वृक्षं प्रति कथयति। येन भ्रमरेण विदुषा च पुरन्दरोद्यानगते महीरुहे सुगन्धितं पुष्परजः घ्रात्वा उज्झितं त्यक्तम्। स एव अयं तव सन्निधौ गतः। अतः कार्पण्यं विमुच्य सुपूज्यताम्, शोभनप्रकारेण सत्क्रियताम्, येन इहैव तिष्ठतु, नान्यत्र व्रजेदिति भावः ॥५७॥

मतङ्गजैश्छिन्नमितस्ततोऽधिकं—
निदाघतीक्ष्णैरपि भानुभिर्वृतम् ।
लवङ्गवल्ली सुरभिं वितन्वती
दैवेन सा कोणगताऽपि दह्यते ॥५८॥

विनष्टे समृद्धे कुटुम्बवर्गे एका कुटुम्बयशस्करी अवशिष्यते, साऽप्यद्य प्रणश्यतीत्याश्रित्य कथयति—मतङ्गजैरित्यादि। सर्वं सुज्ञेयम् ॥५८॥

कुटुम्बवर्गे निजकार्यसंकुले
विपाटिता पञ्जरगाऽर्गला मया ।
व्रजामि खेनेति विचिन्तकन्त्वसुं
प्रविश्य तूर्णं जगृहेऽहिराकुलम् ॥५९॥

कार्यमासन्नसिद्धं दैवाद् विनष्टं शुकवृत्तान्तेनाह। स्वस्य आकाशमार्गेण गमने सर्वा सामग्री संपादिता, परन्तु तेनैव पाटितपञ्जरमार्गेण अहिः प्रविश्य

आकुलं तं जगृहे । इत्याशयः । व्रजामि व्रजिष्यामि । "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति भविष्यदर्थे गमनस्यातिसान्निध्यात् लट् ॥५९॥

गुणैरनन्तैः परिशोभितोऽपि सन्
सदैकदोषेण विगर्ह्यते ह्यसौ ।
रसायने श्रेष्ठतमो महौषधो
विनिन्द्यते चोत्कटगन्धतो बुधैः ॥६०॥

सवथा दोषराहित्यमेव यशस्करं भवतीत्याश्रित्य लशुनकनिरूपणेनाह । सर्वं स्पष्टम् ॥६०॥

आबाल्यात्करिराजदुर्दमदोन्माथी दिशासु श्रुतो
यद्वाचां श्रुतिमात्रतोऽप्यतिमदः शान्तः क्षणाज्जायते ।
दृष्ट्वा यं गजपुंगवः स्ववदने हस्तं प्रदाय स्थितो
मुक्त्वा चैनमपि क्व चाद्यनखरप्रौढिर्वद व्यज्यताम् ॥६१॥

बाल्यकालादारभ्य स्वप्रतिभाप्राकर्ष्येण दिगन्तप्रख्यातकीर्तयो बहुशः बहुषु स्थलेषु पराजिताः, अद्य पल्लवग्राहिपण्डितोऽपि शास्त्रार्थाय उद्युनक्ति, तमाश्रित्य सिंहस्योक्तिः, वद किं शशादिष्वपि नखरप्रौढिर्व्यज्यताम् ? तदाह— आबाल्याद् बाल्यकालादारभ्य, बाल्यावस्थात एव । करिराजस्य गजेन्द्रस्य यो दुर्दमः केनापि शमितुमशक्यो मदः अभिमानो मदकलश्च तस्य उन्माथी विनाशकः । दिशासु श्रुतः, शौर्येण वैदुष्येण च दिक्प्रख्यातः । यस्य वाचां घनघोरशब्दानाम् उक्तीनां श्रुतिमात्रतः श्रवणादेव अतिमदोऽपि मदोन्मत्तोऽपि परमाभिमान्यपि क्षणात् शान्तः जायते, सर्वोऽपि मदः स्वत

एव शाम्यति । यं दृष्ट्वा गजपुंगवः स्ववदने स्वमुखे हस्तं प्रदाय स्थितः । एष हस्तिस्वभावो भवति, सिंहमवलोक्य मुखे शुण्डां विधाय आस्ते । वद कथय एनमपि मुक्त्वा नखरप्रौढिः क्व व्यज्यताम् ? पल्लवग्राहिष्वल्पज्ञेषु शशशृगालादिषु नखप्रखरपाण्डित्यं किं दर्शयतामिति भावः ॥६१॥

ज्ञाता दिक्करिणो ह्यमी मदयुता भीत्या न यान्त्युन्मुखं
कारुण्यास्पदमाश्रिताश्च विमदास्तेषां स्त्रियो वाग्यताः ।
क्षुद्रं चास्ति वराहसैरिभकुलं साम्ये न चैतद् गतं
तद् ब्रूया अनतिस्वकीयनखरप्रौढिं क्व वा दर्शये ॥६२॥

कश्चिद्दिग्विजयी राजा, भीत्या सम्मुखमनागच्छतो राज्ञो विहाय तेषां स्त्रियो वाग्यताश्चावगत्य क्षुद्रराजान् असदृशान् मत्वा स्वकीययुद्धकौशल्यं क्व दर्शयेदित्याश्रित्य सिंहोक्तिं वर्णयति । दिक्करिणो मदयुता ज्ञाताः, परन्तु ते भीत्या सन्मुखं नागच्छन्ति । अभिमानशून्या वाग्यतास्तेषां स्त्रियः सन्ति, स्त्रीभिर्नोचितमायोधनम् । इतरे वराहादयः क्षुद्राः सदृशैः सह युध्यते । तद् ब्रूयाः, यस्य नतिर्नास्ति एवंविधस्य स्वकीयनखरस्य प्रौढिं क्व दर्शये । नास्ति कश्चिदपि विजेय इत्यर्थः । कस्मिंश्चिद् विदुष्यपि योजनीय-मेतत् ॥६२॥

रे रे मत्तमतङ्गज ! श्रुतिपदं ये सङ्गताः षट्पदा-
स्तेः कर्णैरतिताडनेन बहुशो दूरीकृता किं मुधा ?
हानिस्त्वन्मुखमण्डलस्य मनसा तद् भावयस्व क्षणं
भृङ्गाः फुल्लसरोरुहे तु सुखिनो यास्यन्ति पद्माकरे ॥६३॥

कश्चिद् राजा स्वप्रबन्धं विदधानो राज्यशोभाकरान् विदुषो निवारयति, तदुपलक्ष्य करिणमाह—रे रे मत्तमतङ्गज ! "मतङ्गजो गजे नागे" इत्यमरः ।

षट्पदा भ्रमराः ये तव श्रुतिपदं कर्णस्थानं सङ्गताः, तान् बहुशः पुनः पुनः कर्णैरतितडनेन मुधा व्यर्थं किम् उड्डीयन्तेस्य ? हानिस्त्वन्मुखमण्डलस्यास्ति, तत् क्षणं भावयस्व । भृङ्गाः फुल्लसरोरुहे विकसितकमले पद्माकरे "पद्माकरः तडागोऽस्त्री" इत्यमरः । सुखिनो यास्यन्ति इति ॥६३॥

पूर्वस्यां दिशि लोचने ह्यविरतं दत्ते चकोरीगणे
किञ्चिच्चैव विकासमानहृदये जाते तथा कैरवे ।
कामे धुन्वति कार्मुके प्रियजने मानप्रलोपोन्मुखे
धातः किं करुणामपास्य विहितो धाराधराडम्बरः ॥६४॥

सकलकारणकलापे सिद्धिसाधनोन्मुखे दैवादागतं विघ्नमाश्रित्य प्रियजनमानप्रलोपमुपलक्ष्य ब्रह्माणं कथयति । चकोरीगणे अविरलभावेन पूर्वस्यां दिशि लोचने दत्ते, चन्द्रस्यासन्नोदयत्वात्; अत्यासन्ने प्रियजनागमननिश्चये एवमेव तत्प्रेमी विधत्ते । तथा कैरवे रात्रिविकासिनि कमले किञ्चिदेव विकासमानहृदये जाते विकसितुमिच्छति सत्येव, कामे कामदेवे कार्मुके धनुषि धुन्वति सति, प्रत्यञ्चामारोप्य आस्फालयति सति; प्रियजने मानप्रलोपोन्मुखे जाते सति । हे धातः करुणामपास्य धाराधराडम्बरः किं विहितः ? चन्द्रस्याविकसितत्वात् सर्वमेव प्रतिरुद्धमित्याशयः ॥६४॥

निम्ब ! त्वां समुपागते पिकगणे रीढादृशं मा कृथाः
आरामे फलराजकैरपि महापूज्यः सदैवादृतः ।
गीरस्याशु धुनोति कस्य न हृदं प्रेमाकुलं तन्वती
स्वं भाग्यं समुपेहि यत्त्वयि गतः कामप्रियः कामकृत् ॥६५॥

कश्चित् राजसभासम्मान्यो विद्वान् साधारणराजमुपागतः, तमनादरदृष्ट्या व्यवहरन्तं तं साधारणराजमाश्रित्य निम्बमाह । सुगमत्वान्न व्याख्यायते ।

रीढा—"रीढावमाननावज्ञावहेलनमसूर्क्षणम्" इत्यमरः। कामप्रियः "कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः" इत्यमरः। कामप्रियत्वं तस्य पञ्चशरेषु अन्यतमशरत्वात्। कामकृत् "कामोऽभिलाषस्तर्षश्च" इत्यमरः ॥६५॥

रे रे कोकिल ! सन्निधौ वनगतः कालं मधोः प्रेक्षतां
यावन्नो सहकारकोऽतिरजसं सूते शुभां मञ्जरीम् ।
गुञ्जन्तो भ्रमरा यदा प्रियरसाकृष्टा मधुप्रेप्सुकाः
प्राप्स्यन्ति प्रियतां द्विरेफसहितो वाढं तदा लप्स्यसे ॥६६॥

निश्चिते विवाहे तं कालप्रतीक्षणाय तन्मित्रमाह, रे रे कोकिलेत्यादि, सर्वं सुगमम् ॥६६॥

मुक्ताभक्षणचातुरीसुयशसो हंसाः सदा विश्रुताः
दैवान्नीरसमानसेऽपि सरसि स्थित्वाऽन्तिमं लेभिरे ।
नो पारावततुल्यतामुपगताः खादन्ति ते शर्करां
प्राणानाशु सुखं त्यजन्ति मलिनां नो यान्ति नीचक्रियाम् ६७॥

धर्माधर्मविवेककुशलो विद्वान् समागतायामपि विपत्तौ नैवाधर्मक्रियां गच्छतीत्युपलक्ष्य हंसस्थितिं वर्णयति—मुक्ताभक्षणेति। सुस्फुटमिति न व्याख्यायते ॥६७॥

कासारे कमलाकरे बहु वयो यैः प्रापितं प्रीतितः
सानन्दं मधुरं पिबद्भिरमृतं पौष्पं रसं कान्तया ।
दैवादद्य विशुष्कतामुपगते रिक्ते च पद्माकरे
खोड्डीना भ्रमरा भ्रमन्ति परितो गच्छन्ति ते किंशुकम् ॥६८॥

केचन सानन्दं कस्मिंश्चिद् राज्ये निवसन्तः, विनष्टे राज्ये भ्रमन्तः कमपि स्वल्पराज्यं राजानमाश्रित्य तिष्ठन्ति, तानेवोपलक्ष्याह—कमलानां पद्मानाम्

आकरे खनिस्वरूपे बहुतरकमलव्याप्ते कासारे तडागे सानन्दम् आनन्दपूर्वकं मधुरम् अमृतं जलम् ("पयः कीलालममृतम्" इत्यमरः) कान्तया स्त्रिया सह पौष्पं रसं पिबद्भिः यैः भ्रमरैः प्रीतितः बहु वयः प्रापितं व्यतीतम् । दैवाद् अद्य विशुष्कतामुपगते प्रत्यासत्त्या तस्मिन् कासारे शोषमुपगते पद्माकरे रिक्ते पद्मशून्ये तडागे सति । खे उड्डीनाः खोड्डीनाः, सप्तमीति योगविभागात् समासः । ते भ्रमराः परितः भ्रमन्ति, अहो किंशुकं पलाशं सौगन्ध्यादिशून्ये पलाशपुष्पे गच्छन्ति ॥६८॥

नीरक्षीरविवेचने यदि भवेद् हंसोऽपि सालस्यकः
कोऽन्यस्तादृशसद्विवेकसुपटुर्लोके त्वया विश्रुतः ।
नो चेत् तं समुपास्य वासय तथा स्वीकार्यतां सा कृति-
र्येन स्यात् सकलोऽपि भूतलगतो नान्यायमार्गं भजेत् ॥६९॥

कमपि गच्छन्तं न्यायशीलिनं प्रति रुन्धानः कश्चिद् हंसमनुसृत्याह । व्याख्या सुज्ञेयेति न व्याख्यायते ॥६९॥

नीते माधवशुक्रगस्य तरणेश्चण्डांशुभिः शुष्कतां
पान्थाः कस्य तृषाकुला मयि गता यास्यन्ति हा सन्निधिम् ।
इत्थं शोकसमाकुलः प्रतिदिनं पद्माकरः क्षीयते
मार्गस्थः स सदा क्षितौ विजयते धिग् वारिधेर्जीवनम् ॥७०॥

कश्चिद् याचकाऽभिलषितपूरको दानी मुमूर्षुश्चिन्तयति, मयि स्वर्गं प्रयाते समागतानां याचकानां कोऽभिलषितं पूरयिष्यतीत्याश्रित्य पद्माकरोक्तिमाह—नीते इति । माधवो वैशाखः, शुक्रः ज्येष्ठः । तौ गाते गच्छतीति माधवशुक्रगः ।

"वैशाखे माधवो राधो ज्येष्ठे शुक्रः शुचिस्त्वयम् । आषाढे" इत्यमरः । तस्य वैशाखज्येष्ठगतस्य तरणेः सूर्यस्य चण्डांशुभिः प्रचण्डकिरणैः मयि शुष्कतां नीते प्राप्ते सतीत्यर्थः । तृषाकुलाः पिपासया व्याकुलाः मयि गताः पूर्वाभ्यासवशाद् मम सन्निधिमागताः पान्थाः हा इति कष्टे, शोकाकुलः कष्टाकुलश्च हा इति शब्दं करोति । यथा हनुमन्नाटके भरतोक्तिः—"मातस्तातः क्व यातः ? सुरपतिभवनम्, हा कुतः ? पुत्रशोकात्" इयादि । कस्य सन्निधिं समीपं यास्यन्ति । तत्र सन्निधौ कमलाकरस्याभावात् । इत्थं शोकसमाकुलः परदुःखापाकरणाभावाद् अतिसंतप्तः पद्माकरः तडागः प्रतिदिनं क्षीयते नश्यति । मार्गस्थः पथि स्थः, अन्यत्र सन्मार्गस्थः, स पद्माकरः क्षितौ नाशेऽपि सदा विजयते सर्वोत्कृष्टतया वर्तते, "विपराभ्यां जेः" इत्यात्मनेपदम् । वारिधेः जीवनं धिक्, यस्य जलं कस्यचिदपि पान्थस्य मुखे न प्रविशति, नैव तृषां शमयति ॥७०॥

क्षुद्रेऽस्मिन्सुमनोरजस्यपि सखे ! लोभं वृथा मा कृथाः
योग्यं तृड्रहितं सदा गतिमम्रुं संतोषय स्वादरात् ।
नायं भृङ्गसमः सुचाटुनिरतस्त्वत्पार्श्वमात्रस्थितः
किन्त्वेषोऽखिलभूतले तव गुणान् प्रस्तारयिष्यत्यलम् ॥७१॥

कश्चिदतिकृपणं मित्रमुपदिशति । विचरणशीलं निःस्पृहममुं संन्यासिनं संतोषय, एष तव गुणान् सर्वत्र प्रसारयिष्यतीत्युपलक्ष्य सखायं वृक्षं पुष्पं वा प्रत्याह—हे सखे ! वृक्षमात्रस्य संबोधनम्, क्षुद्रे अकिञ्चने अप्रयोजने वा अस्मिन् सुमनोरजस्यपि वृथा लोभं मा कार्षीः । अन्यवस्तुषु यथा कथञ्चित् लोभकरणं युज्यते, परन्तु रजसि लोभः सर्वथा अनुचित एव । यद्वा सुमनः इति संबोधनम्, अन्यत् पूर्ववदेव सुज्ञेयमिति न व्याख्यायते ॥७१॥

रे रे बर्बर कण्टकैः परिवृतः पार्श्वेऽपि ते संस्थिताः
पान्थास्त्वामनुयान्तु केन विधिना रिक्तो फलैश्च्छायया।
वामेनात्र वटः स्थितोऽतिशिशिरच्छायाभिरामोदयन्
सर्वान् सत्कुरुते भुजैरपि समानाश्लेषयत्यादरात् ॥७२॥

कश्चित् सत्कारकरणानर्हं मित्रमुपलक्ष्य बर्बर(बबूर)वृक्षमाह। सर्वं स्पष्टम् ॥७२॥

एकाकी गहने सखे! पिक! मधु ध्वानं वृथा मा कृथाः
काकास्ते मधुरध्वनेरुपगताः सन्त्येव ते निर्दयाः।
ज्ञात्वा त्वामथ वैरशोधनधिया साजात्यबुद्ध्याऽथवा -
घोरं कर्म समाचरेयुरखिला मौनी भवेस्त्वं ततः ॥७३॥

कश्चिद् विद्वान् पण्डितंमन्यैर्मूर्खैर्व्याप्तायां कस्याञ्चिद् राजसभायां समागतः, अतिमनोहरं शोभनं वदन्तं तमवलोक्य तत्सखा प्रतिरुणद्धि, तदुपलक्ष्य पिकं ध्वनेः प्रतिषेध विधातुमाह—हे सखे ! पिक ! एकाकी असहायः "एकादाकिनिच्चासहाये" इत्याकिन्। गहने अस्मिन् वने "गहनं काननं वनम्" इत्यमरः। वृथा मधु ध्वानं मनोहरशब्दं मा कृथाः, मा कार्षीः। ते तव मधुरध्वनेरुपगताः प्राप्ताः काकाः निर्दयाः दयारहिताः सन्त्येव; दयारहिताः काका भवन्तीति भवतो विदितमेव। अथ त्वां ज्ञात्वा वैरशोधनधिया, तेषाम् अण्डस्वरूपं पुत्रं विनाश्य स्वकीयाण्डौ तत्रैवास्थापयस्त्वमिति वैरनिर्यातनबुद्ध्या अखिलाः सर्वेऽपि घोरं कर्म तव मारणस्वरूपं कर्म समाचरेयुः। अथवा साजात्यबुद्ध्या—सजातीयः सन् असौ कथं मधुरध्वनिं करोतीति हेतोश्च घोरं कर्म समाचरेयुः। ततस्तस्मात् कारणात् त्वं मौनी भवेः। तव पाण्डित्यात् स्वापमानं मन्यमाना इमे मूर्खास्त्वां हनिष्यन्तीति मौनी भवेति भावः। मित्रं प्रति उक्तौ पिकं प्रत्युक्तिरित्यन्योक्तिः ॥७३॥

रत्नानां जनको नृपः शिखरिणां बिभ्रद् हिमानीमिमां
सर्वेषां सुषमां त्वदाश्रयवतां द्रूणां विधत्से हताम् ।
त्वामेवानुगतान् विहङ्गमगणाञ्जन्तून् जनान् भूरिशः
हन्तुं तान् यतसे वदः किमु तथा कार्येऽस्ति दृष्टो गुणः ॥७४॥

कश्चित् समृद्धिमान् नृपः स्वाश्रितान् दुःखयति, तेषां समृद्धिमप्यपहरते, तमेवानुगतान् हन्तुमपि यतते इत्युपलक्ष्य हिमालयमाह—त्वं रत्नानां जनकः उत्पादकः, शिखरिणां नृपः, तेषु सर्वश्रेष्ठत्वाद् राजा पर्वतेश्वरः । इमां हिमानीं हिमसमूहम् "हिमानी हिमसंहतिः" इत्यमरः, बिभ्रद् दधानः । त्वदाश्रयवतां सर्वेषां द्रूणां वृक्षणाम् "अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रु-द्रुमागमाः" इत्यमरः । सुषमाम् "सुषमा परमा शोभा" इत्यमरः । हतां नष्टप्रायां पलाशरहितां विधत्से । त्वामेवानुगतान् विहंगमगणान् पक्षिसमूहान् जन्तून् क्षुद्रप्राणिनः भूरिशः जनान्, तान् हन्तुं नाशयितुं यतसे यत्नं करोषि । वदः त्वं कथय, तथा कार्ये दृष्टः गुणः अस्ति किमु ? परलोकभिया तत्कार्यं परिहरेति भावः ॥७४॥

अथ शिखरिणीवृत्तेन अन्योक्तीराह—

निदाघे जम्बीरो वकुलपनसौ चम्पकतरुः
प्रियालो यज्ञाङ्गो मधुरसहकारो मधुतरुः ।
अरिष्टः कर्चूरः पथिकजनताया निजगुणैः
दिनान्ते याताया अतिथिसमपूजां विदधिरे ॥७५॥

सायं समायातानां प्राघूर्णिकानां साधूनां च नागरिका मिलित्वा संघीभूय तेषामातिथ्यसत्कारं पूजां च कुर्वन्ति, उपायनान्यपि नयन्ति, तदेवोपलक्ष्य

द्रुमेष्वाह—निदाघे उष्णर्तौ "निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तपः" इत्यमरः। दिनान्ते सायं यातायाः प्राप्तायाः पथिकजनताया निजगुणैः अतिथिसमपूजाम् एते वृक्षाः विदधिरे। एते के? इति तन्नामान्याह—जम्बीरः, स्वनामख्यातः, कुसुमं तस्यातिसुगन्धितं भवति, वकुलः (वेला–'एशय्यादिषु' इति प्राकृतप्रकाशसूत्रेण एकारः। "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" इति ककार-लोपे पूर्वरूपे सौ अन्त्यस्य दीर्घः 'वेला' इति) तस्य पुष्पमतिसुगन्धितं भवति। पनसः 'कण्टकिफलः' सर्वतो भावेन तत्फले कण्टका भवन्ति। तत्कुसुममपि मधुरगन्धं भवति। "पनसः कण्टकिफलः" इत्यमरः। स चोष्णर्तौ पुष्पैः फलैश्च भेजे। अपक्वे तस्मिन् शाकेन तद् गृह्यते, पक्वे भुज्यते। चम्पकः चम्पेति नामख्यातः। "चम्पको हेमपुष्पकः" इत्यमरः। प्रियालः "राजादनं प्रियालः स्यात्" इत्यमरः। खिन्नी इति लोके, स तु फलैः सिषेवे। यज्ञाङ्गः "उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः" इत्यमरः। गूलरपकरिया इति लोके। स तु सघनच्छयो भवतीति फलैश्छयया सिषेवे। सहकारः आम्रः "आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः" इत्यमरः। अयमुष्णर्तौ फलतो-त्युभयथापि, पक्वापक्वैः फलैरषेविष्ट। मधुतरुः मधूकः, अस्य पुष्पम् 'महुवा' फलन्तु 'गुल्लू' इति लोके प्रसिद्धम्; ग्रीमर्तौ एव पुष्पाणि फलानि च भवन्ति। "अम्रातके मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ" इत्यमरः। अरिष्टः–हिङ्गुनिर्यासको वृक्षविशेषः। "अरिष्टः सर्वतोभद्रहिङ्गुनिर्यासमालकाः" इत्यमरः। अरिष्टम्—हिङ्गु, यद्वा अरिष्टः—गृञ्जनः, फलं तस्य गृञ्जनम्। "लशुनं गृञ्जनं चैव छत्राकं ग्रामकुक्कुटम्। पलाण्डुं विड्वराहं च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्"इति निषेधः। स च ब्राह्मणब्रह्मचारिविषय इति केचित्; अपरे पर्वतीया विद्वांसः गृञ्जनपदेन सलजमं गृह्णन्ति। वस्तुतस्तु पथिकजनतायां सर्वासामपि जातीनां सत्त्वात् तथाकथनं नाविरुद्धमिति। यद्वा–अरिष्टम्—गोरसम्, तथा चामरः—"तत्तु हैयङ्गवीनं यद् ह्यो गोदोहोद्भवं घृतम्। दण्डाहतं कालशेषमरिष्टमपि गोरसः"। कर्चूरः—कचूर इति। 'कचूरा' इति शिमला-प्रान्ते रामपुरबुलन्दशहरादौ पत्तने प्रसिद्धम्, तच्चातिमनोहरं शाकादौ प्रक्षिप्तं

तं सुस्वादुं जनयतीति सर्वेऽपि निजगुणैः प्राप्तायाः पथिकजनताया आतिथ्यं चक्रुः ॥७५॥

नलिन्याः सन्नालं मृदुलमृदुलं त्वं वरटया
सहाभुङ्थाः पीतं मधुरममृतं साधु शिशिरम् ।
तथा तीरे रात्रौ पृथुलमशयिष्ठा मृदुतले
कथङ्कारं हंस ! प्रतिकृतिमुपेयास्तु सरसः ॥७६॥

कश्चित् सुधीः कस्यचिद् भोजनशयनादिसर्वविधमुपकारं स्मारयित्वा कमपि कथयति । कथं त्वमस्य प्रत्युपकारं करिष्यतीत्याश्रित्य हंसं कथयति—हे हंस ! त्वं मृदुलमृदुलम् अतिसुकुमारं नलिन्याः सन्नालम् उत्तमोत्तमनालं वरटया स्वस्त्रिया सह "हंसस्य योषिद् वरटा, सारसस्य तु लक्ष्मणा" इत्यमरः । अभुङ्थाः । मधुरम्—मिष्ठं साधु शिशिरं मनोनुकूलशीतलम्, अमृतम्—अमृतमिवोपकारकम्, अमृतं जलम् "पयः कीलालममृतम्" इत्यमरः । पीतम्, तथा रात्रौ मृदुतले प्रशस्तकोमलभूमितले तीरे तत्रैव जलप्रान्ते पृथुलम् अशयिष्ठाः, शीतलसुगन्धवायुयुक्ते मृदुतले ससुखमशयिष्ठाः । एवं सुखोपपत्तौ सरसस्तु तडागस्य कथङ्कारं प्रतिकृतिं प्रतीकारं प्रत्युपकारम् उपेयाः ॥७६॥

सदा संसारे ये सकलजनतायाः सुखविधौ
प्रवर्तन्ते तेषां कृतिरपि चमत्कारजनिका ।
वचोवैचित्र्यं द्राग् बुधगणगतास्ते विदधते
सतां लोकातीतो भवति सकलो वागविषयः ॥७७॥

कश्चिद् विद्वान् स्वमित्रं सतां कृतिश्रावणेन सत्कृतौ प्रवर्तयति । अर्थः स्फुट एवेति न व्याख्यायते ॥७७॥

मन्दाक्रान्तेनाह—

मातङ्गानां पृथुतरमदैर्भ्राम्यमाणाः समन्तात्
पित्सन्तो द्राग् बहु शुशुभिरें यत्र भृङ्गाः शिरस्थाः।
मुक्ताभिर्द्वाः पृथुलपृथुभिः पूर्यमाणा नितान्तं
भूपे याते त्रिदशनगरीं तत्र फेरोर्निनादः ॥७८॥

कश्चित् संसारस्थितिं सूचयंस्तस्येतिवृत्तमाह—यत्र राजद्वारि मातङ्गानां गजानाम् "गजेऽपि नागमातङ्गौ" इत्यमरः। पृथुतरमदैः प्रवहद्भिर्मदैरित्यर्थः, अत एव प्रवाहवेगेन तेषामस्थिरत्वात् समन्ताद् भ्राम्यमाणाः, मदग्रहणेच्छया सर्वतो भ्रमन्तः, द्राक् पित्सन्तः शीघ्रमेव पातुमिच्छन्तः, शिरस्थाः यत्र भृङ्गाः बहु शुशुभिरे। शिरसः "खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः" इति विसर्गलोपः। पुनः पृथुलैर्विशालैः पृथुभिर्बहुभिर्मुक्ताभिर्द्वाः नितान्तमतिशयितं पूर्यमाणाः, "स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः" इत्यमरः। भूपे तदधिपतौ त्रिदशनगरीं याते तत्र फेरोः जम्बुकस्य शृगालस्येत्यर्थः। "फेरुफेरवजम्बुकाः" इत्यमरः। निनादः। फेरोरिति जातित्वादेकवचनम्। यत्रेदृशमैश्वर्यमासीत् तत्र शृगालाः शब्दं कुर्वन्ति इति संसारचक्रव्यवस्था ॥७८॥

मालिनीछन्दसा आह—

वितरति समभावात् सर्ववृत्तेषु तुल्यां
दृशमिति वकुलं तं नेक्षते मालिकोऽसौ।
विकसितकुसुमानां साधुगन्धैर्दिगन्तं
भरितमयमकार्षीत् तावदेवाक्रमेण ॥७९॥

कश्चिद् विद्वान् अध्यापकः सर्वेष्वपि छात्रेषु समभावाद् व्यवहरति, तत्र मेधावी प्रतिभासम्पन्नः कल्पकः कश्चिच्छात्रस्ततो निःसृत्य तद्यशः

प्रास्तारयदित्युपलक्ष्य वकुलं वर्णयति—असौ मालिकः मालाकारः पुष्पैर्मालानिर्मापकः "मालाकारस्तु मालिकः" इत्यमरः। समभावात् सर्ववृक्षेषु तुल्यां समानां दृशं वितरति, इति हेतोः तं वकुलं सर्ववृक्षातिशायिसुगन्धदायकं विशेषरूपेण नेक्षते, तद्गुणस्याज्ञानात् समभावाच्च। तावदेव यावत्तेषु कश्चित् प्रफुल्लितो भवति, अयं वकुलः विकसितकुसुमानां प्रफुल्लितपुष्पाणां साधुगन्धैः मनोहरसुगन्धैः अक्रमेण दिगन्तं भरितम् अकार्षीत्। भरितमिति ण्यन्तस्य रूपम् ॥७९॥

वंशस्थवृत्तेनाह—

सुधन्विशून्ये पृथुलं धनुर्धरं
तद्युक्तदेशेऽसिपटुं ब्रवीत्यसौ।
द्वयेन हीने तु निजं द्विकप्रभुं
युक्ते द्वये चोभयथा न तद्विदम् ॥८०॥

कश्चिदवसरवादिनां कृतिस्वरूपमाह—असौ सुधन्विभिः शून्ये, पृथुलं महान्तं धनुर्धरं ब्रवीति। धन्विन् शब्दोऽप्यस्ति, तथा चामरः—"धन्वी धनुष्मान् धानुष्कः" इति। अन्यत् सुगमम् ॥८०॥

न निर्गुणेभ्यो वसु चैष यच्छति
क्ष्मापश्च कूपश्च निसर्गसेवकः।
अद्यापि कूपो दृढभावतः स्थितो
ददात्यसौ चागुणिनेऽपि भूपतिः ॥८१॥

सदा गुणवते प्रदेयमिति कूपभूपयोः कृतिमाह—एष क्ष्मापः भूपतिः कूपश्च निसर्गसेवकः सर्वस्यापि स्वभावसिद्धसेवकः, न खलु किञ्चिद् गृहीत्वैव

दत्तः, किन्तु गुणवते ददाते एव। एष इति भिन्नक्रमेणान्वेति, निसर्गसेवकः एष क्ष्मापः कूपश्च, भूपस्तु निर्गुणेभ्यः दाक्षिण्यवैदुष्यादिगुणरहिताय वसु धनं ददाति, कूपश्च निर्गुणेभ्यो रज्जुरहितेभ्यः, वसु जलं न यच्छति न ददाति, "वसु तोयधने मणौ" इत्यमरः"। कूपः अद्यापि दृढभावतः स्थितः, दृढप्रतिज्ञो वर्तते, नैव रज्जुरहिताय जलं ददाति; असौ भूपतिः निर्गुणिनेऽपि ददाति। जडचेतनयोरयमेव भेदः; जडस्तु दृढप्रतिज्ञो भवति, चेतनश्च अवसरवादी भ्रष्टप्रतिज्ञो भवतीत्यर्थः ।।८१।।

सम्मिश्रितं नीरपयोविभाजनं
करोति हंसो ह्यपरश्च नेदृशः।
स एव चालस्यजितो भवेत्तदा
सन्न्यायवार्ता विगता महीतलात् ।।८२।।

पक्षपातरहितं न्यायकारिणमाश्रित्य हंसोपालम्भद्वारा आह। अर्थः स्फुट एव ।।८२।।

सदा सुधासुन्दरवाग्विलासिनो
जातेऽपराधे भुजगानुकारिणः।
ज्ञानोपदेशादमरत्वकारका
जयन्तु चैते गुरवो महीतले ।।८३।।

महात्मनां सज्जनानां स्वरूपमाह। अर्थः सुव्यक्त एवेति न व्याख्यायते ।।८३।।

वाङ्मात्रतोऽसौ शुनकः प्रतीयते
कालान्तरे साधुजनोऽपि मन्यते ।
सम्भाषणे सन्मुनिरेव बुध्यते
शतं समास्तिष्ठतु तादृशो नरः ॥८४॥

असौ वाङ्मात्रतः शुनकः श्वा प्रतीयते, तपोऽनुष्ठाने अनुपयुक्तभाषणात् तत्स्थितिं नानुमोदयति, यथा समागतं कमपि प्राघूर्णकं दृष्ट्वैव श्वा भुषते, तथैवायमपि व्यवहरति । अथ किञ्चित्कालं तस्मिन् स्थितवति सोपयुक्तवार्ता-श्रवणानन्तरं संसारदुःखमुमुक्षुं तमवगत्य सद् व्यवहरतीति साधुजनो मन्यते; नायं क्रूर एव, किन्तु सज्जनोऽप्ययमिति मन्यते । अथ सम्भाषणे सम्यक् प्रकारेण युक्त्युक्तिप्रमाणकथनानन्तरम् अद्वैतवादयुक्तिप्रमाणश्रवणानन्तरं सन्मुनिरेव कृतेश्वरसाक्षात्कार एवायमिति बुध्यते निश्चीयते । एवंविधो नरः शतं समाः शतवर्षपर्यन्त तिष्ठतु । नीरोगः सन् एवमेव जनताया उपकारं कुर्वन् जीव्यात् ॥८४॥

त्वं शीतलश्चन्दन ! लोकपूजितो
देवप्रियोऽनेकगुणैरुपाश्रितः ।
अहेः कुसङ्गान्नहि साधुभिः श्रित-
स्तथापि तानेव बिभर्ष्यहर्निशम् ॥८५॥

विविधगुणसम्पन्नः सुयोग्योऽपि नरः कुसङ्गात् साधुभिर्नैवादृतो भवतीत्युपलक्ष्य चन्दनमाह—शीतलेति । हे चन्दन ! त्वं शीतलः शैत्यगुणयुक्तः

मनोहरशीतलोऽसि, नासह्यशीतलोऽसीति भावः । तथा लोकपूजितः लोकैः पूजितः, लोकास्त्वां शिरसा धारयन्ति । देवप्रियोप्यसि, देवैः शिरसि निधाय आद्रियसे, अनेकगुणैः उपाश्रितः; अहेः सर्पस्य कुसङ्गात् प्राणघातकस्य तस्य सम्बन्धात् साधुभिर्नैव श्रितः, सत्पुरुषाः न त्वया सह संसर्गं कुर्वते; तथापि साधुभिरुपेक्षितोऽपि त्वं तानेव अहर्निशं रात्रिन्दिवम् अविरतभावेन धारयसि । कुसङ्गो दुस्त्यजो भवतीति भावः ॥८४॥

द्विजिह्वयोगात् सुधियोऽतिदूरत-
स्त्यजन्ति योग्यैः सुगुणैरुपागताः ।
तथापि तानेव सदैव बिभ्रतो
वदामि किं ते प्रतिपालनाविधिम् ॥८६॥

पुनः प्रकारान्तरेणाह—"अङ्गीकृतं सुकृतिनः प्रतिपालयन्ति" दुष्टानपि स्वीकृत्य विदुषां विरोधेऽपि तान् न त्यजसि, किन्तु तान् प्रतिपालयस्येवेति भावः । अन्यत् स्पष्टम् ॥८६॥

पवित्रयन्ती रजसा स्वजीवनै-
र्विशोषिता स्याद् द्युमणेः करौष्ण्यतः ।
स्थितिः किमस्याः सरसाऽपि युज्यते
मनीषिभिर्युक्तियुतं विचार्यताम् ॥८७॥

कस्याश्चित् स्वजीवनाधायकस्य प्रत्युर्नाशे स्थानान्तरे गतवति सति पुनरपि तथैवागमनसम्भावनायां स्वस्वरूपनाशकस्य अन्यपतेः स्वीकरणं किं

योग्यमस्ति न वेत्याश्रित्य गङ्गाशोषमाह—रजसा स्वकीयरजःकणिकया पवित्रयन्ती, द्युमणेः सूर्यस्य करौष्ण्यतः विशोषिता स्यात्, सर्वथा गङ्गोदक-शून्या विहिता स्यात्; किम् अस्याः स्थितिः तडागेनापि पूर्यते? मनीषिभि-र्युक्तियुतं विचार्यताम्। तडागजलेन पूरणे वर्षानन्तरमपि तस्यास्तडागत्वमेव भविष्यति; अपूरणे विहिते वर्षानन्तरं स्वस्थानस्थिता पुनः गङ्गैवोक्ता भविष्यतीति भावः। तस्याः रजःकणिकामाहत्म्यं केनापि कविना लोकगिरा उक्तम्—

ऐसो इक पापी कोउ डगर में डार दीनों
नगर की कींच से शरीर वाको गल गयो।
श्वान अरु सियार सब सूँघि-सूँघि लौट जात
ऐसो महापापी कोउ भक्षण न कर गयो॥
गङ्गा के नहायो एक बैठो काग आय
मुख पर किरण धूलि वाके झरि गयो।
चढ़ो जात है विमान सुन्दरी खवावै पान
ऐसो इक पापी आज देखत में तर गयो ॥८७॥

पवित्रयन्ती स्वतरङ्गमण्डलै-
र्विशोषिता सूरकरैरशेषतः।
तथापि ते पद्धतिवारिसंग्रहो
न युज्यतेऽसौ भरणिर्विनिन्दता ॥८८॥

सर्वं पूर्ववदेवावगन्तव्यम्। व्याख्या स्फुटैवेति न व्याख्यायते ॥८८॥

क्रमेलकैर्बर्बर ! तेऽतिसंगतिः
सुशोभना साध्वनुमोदिता शुभा ।
यतो द्वयोः सख्यमुपागतं विधे-
र्न चागमिष्यत्यपरस्तवान्तिकम् ॥८९॥

कुसङ्गिनोः संगतौ अपरस्तन्मध्ये नाधिगच्छतीत्याश्रित्य बर्बरक्रमेलकयोरितिवृत्तमाह—हे बर्बर ! (बबूल) ते तव क्रमेलकैः उष्ट्रैः सह अतिसंगतिः सुशोभना शुभा साधुजनै रनुमोदिता च वर्तते, स एव ते भक्षणं कर्तुं शक्नोति, नान्यः कश्चिदपि तादृक् सामर्थ्यवान् ; यतः विधेः विधिनिर्देशाद् द्वयोः सख्यम् उपागतम्, अपरः कश्चिदपि तवान्तिकं तव समीपं नैवागमिष्यतीत्यर्थः ॥८९॥

शृगालवैवाहिककार्यसंगतौ
खराः खरैश्चीत्कुरुतेऽतिवासितैः ।
जामातृरूपं श्वशुरः स्तुवीत्यलं
चीत्कारशब्दं त्वितरे स्तुवन्ति तम् ॥९०॥

ग्रामीणकुस्वरूपविवाहे मूर्खपुरोहितो मिथ्यैव घोरध्वनिं कुरुते, तदेवाश्रित्य शृगालखरवर्णनेनाह—शृगालवैवाहिककार्यसंगतौ खराः गर्दभाः "खरो वैशाखनन्दनः" इत्यमरः । खरैः तीक्ष्णैः "तिग्मं तीक्ष्णं खरं तद्वद् मृगतृष्णा मरीचिका" इत्यमरः । अतिवासितैः अतिशयितैर्वासितैः "तिरश्चां वासितं रुतम्" इत्यमरः । चीत्कुरुते । उत्तरार्द्धः स्पष्ट एव ॥९०॥

वेदान्तविद्याकुशलोऽपि दुर्जनो
जहाति न स्वप्रकृतिस्थदुष्टताम् ।
सरोवरे तिष्ठतु पद्मपत्रकं
न लेशतोऽप्येति तदीयसङ्गतिम् ॥९१॥

पद्मपत्रं जले निमग्नं बहुसमयं स्थितं न जलं स्पृशतीति दुर्जनः सज्जन-स्वभावं न स्पृशतीत्याह—वेदान्तविद्याकुशलोऽपि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन", "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतीनामन्तस्तलीय-तत्त्वनिष्णातोऽपि दुर्जनः दुष्टः स्वप्रकृतिस्थदुष्टतां स्वकीयस्वभावगतदौर्जन्यं न जहाति नैव त्यजति, तदेवोत्तरार्धेन समर्थयति—पद्मपत्रं सरोवरे तडागे निरवधिकमेव यथेच्छं तिष्ठतु, लेशतोऽपि अणुमात्रतोऽपि 'इदं सरोवरे अतिष्ठत्' इति बोधयितुमपि तदीयसङ्गतिं जलादानसम्बन्धं न एति न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥९१॥

पुनर्दुष्टप्रकृतिमाह—

खलः सतां सङ्गतिमातनोत्यलं
न दुःस्वभावं विजहाति दौष्ट्यतः ।
श्वपुच्छमातैलमुपासितं परं
न वक्रतां मुञ्चति जीवनावधिम् ॥९२॥

खलः दुष्टस्वभावः पुरुषः सतां सज्जनानाम् अलं पर्याप्तं बहु कालपर्यन्तं सङ्गतिम् आतनोति, सर्वतो भावेन ऐक्येन स्नेहं प्रसाधयति; तथापि दौष्ट्यतः दुष्टत्वाद् दुःस्वभावं न विजहाति न त्यजति, तदेवोत्तरार्द्धेन समर्थयति—

श्वपुच्छम् आतैलम्, सर्वतो भावेन तैले निमज्य उपासितम्, सरलतापादने सेवितम्, परं जीवनावधिम्, यावज्जीवं वक्रतां न मुञ्चति नैव त्यजतीत्यर्थः ॥९२॥

क्षारं पयोधेरुपनीय पुष्करं
तत्स्वादुमाधुर्यविधापनं शुभम् ।
युक्तं परं तस्य जलेषु पर्वते
वृथा परित्यागविधिः क्व शिक्षितः ॥९३॥

राज्ञा नियुक्ताय कस्मैचिन्मन्त्रिणे विद्वद्भ्यो दानार्थं बहु धनं दत्तम्, स बस्त्रपात्रान्नादि गृहीत्वा मूर्खेभ्यो ददातीत्याश्रित्य मेघस्य पर्वते जले च वर्षणमाह—रे पयोधर! तथाविधकार्यात् (पयोधरस्याक्षेपः) पयोधेः समुद्रात् क्षारं पुष्कर जलम् "कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्" इत्यमरः, उपनीय गृहीत्वा तत् सुस्वादु मधुरं विधापनम्, तस्यैव मधुरीकरणमित्यर्थः। ते तव युक्तम्, शोभनमिदं ते कार्यमिति भावः। परं तस्य जलस्य जलेषु परित्यागः, अथ च पर्वते परित्यागः क्व शिक्षितः? जलस्य जले परित्यागाद् धनिकेभ्यो धनं ददासीत्याक्षेपः; पर्वते परित्यागात् पाषाणस्वरूपाय नितान्तमूर्खाय धनं ददासीत्याक्षेप इति अन्योक्तिः स्फुटैव ॥९३॥

चलन्ति तारा वसुधापि नाचला
निशाकरश्चापि विभाकरश्चलौ ।
लये तु सर्वं चलति श्रुतौ गतं
महात्मनां निश्चलमेव मानसम् ॥९४॥

मनश्चञ्चलतया खिन्नं मित्रमाह—ताराः नक्षत्राणि चलन्तीति यन्त्रेण प्रत्यक्षमेव, वसुधा पृथ्वी अपि अचला नास्ति, तस्या अपि चलत्वं प्रत्यक्षी-

कृतमेव । निशाकरविभाकरौ सूर्याचन्द्रमसौ अपि चलौ, किं बहुना लये प्रलये सर्वं चलति । "सूक्ष्मं सद् ब्रह्मणि लीयते" इति श्रुतौ वेदे गतम्, यद्वा श्रुतौ कर्णे गतम्, न केनाप्युक्तम् । "निरपेक्षो रवः श्रुतिः" इत्येव तल्लक्षणम् । एवं सर्वस्यापि चलत्वम्, परन्तु महात्मनां युक्तयोगिनां मानसं निश्चलमेव । युक्तयुञ्जानभेदाद् द्विविधौ योगिनौ । तत्र "युक्तस्य सर्वथा भानं युञ्जासहकृतो परः" इति । ननु तस्य निश्चलत्वमपवदता पार्थेन गीतायामुक्तम्—"तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्" इति कथनादसम्भवितमेव मनसो निश्चलत्वमिति चेत् ? सत्यम्; साधारणतया निश्चलत्वाभावेऽपि "अभ्यासेन च कौन्तेय ! परिप्रश्नेन सेवया" इत्यादिना तत्रैव समाहितमिति दिक् ॥९४॥

किं ब्रूमः सहकार ते मधुरतां चेतोहरं सौरभं
भ्राम्यन्तो गहनेऽखिले विटपिनामास्वादिनः षट्पदाः ।
सत्यं ते निगदन्ति नैव भवतस्तुल्यः क्वचिद् दृश्यते
तस्मात्ते फलराज नाम कथितं सर्वैस्तुतं सादरम् ॥९५॥

कश्चिद् विद्वान् कमपि सर्वगुणसम्पन्नं महोपकारकं दयालुं राजानमवलोक्य तम् 'राजर्षिम्' तद्गुणानामाधारेण अकथयत्, तदेवाश्रित्य सहकारमाह—हे सहकार ! ते तव मधुगुणं माधुर्यगुणं किं ब्रूमः ? तद्विषये कियतीं स्तुतिं प्रशंसां वा कुर्याम्; अनिर्वचनीयमेव ते माधुर्यम् । अत एव पाश्चात्त्यैः इङ्लैण्डफ्रांसामेरिकादिदेशैर्वाढमादृतः । अथ च ते सौरभं सौगन्ध्यं चेतोहरं मनोहरम् । अखिले गहने सम्पूर्णे वने भ्राम्यन्तः अबाधगत्या भ्रमन्तः विटपिनामास्वादिनः सर्वेष्वपि वृक्षेषु गच्छन्तः, तेषां फलानां सर्वतोभावेन स्वादं गृह्णन्तः, तत्स्वभावादेव आस्वादिनः षट्पदाः भ्रमराः, ते सत्यं

निष्पक्षपातं निगदन्ति, भवतस्तुल्यः क्वचिद् नैव दृश्यते, निश्चयेन भवत्सदृक्षः क्वचिदपि नैवास्तीति भावः। तस्मात् ते तव 'फलराजः' नाम कथितम् उक्तम्, सर्वैः सादरं स्तुतम् अनुमोदितम्।

उक्तं चात्र केनापि कविना—

अपास्यामा जम्बूः हृदयभिदुरं दाडिमफलं
कुशूलं संधत्ते हृदयमपमानेन पनशः।
भयादन्तस्तोयं तरुशिखरिजं लाङ्गलिफलं
समुद्भूते चूते जगति फलराजे प्रसरति ॥॥९५॥

भूतिस्ते जलधेः स्थितिः सुरपतेरुद्यानभूम्यग्रणी-
रिन्द्राणीहृदयङ्गमोऽतिसुरभिर्यातो दिवौकःप्रियः।
याञ्चां साधुसमृद्धिगां वितनुषे दाता त्वदन्योऽस्ति कः
किन्त्वज्ञेषु सुधीषु ते समधियं दृष्ट्वैव खिन्देतराम् ॥९६॥

कश्चिद् विद्वान् सुधीषु मूर्खेषु च समधियं राजनमुपलक्ष्य कल्पवृक्षमाह—ते तव भूतिः समुत्पत्तिः जलधेः समुद्रात्, सुरासुरसमुद्रमन्थनप्रयासाद् जाता। एतेन तदुत्पत्तौ आदरातिशयो व्यज्यते। स्थितिः सुरपतेरिन्द्रस्य उद्यान-भूम्यग्रणीः, सर्वोत्कृष्टतमायाम् इन्द्रस्योद्यानभूमौ स्थितिः। एतेन समृद्धस्थान-स्थायित्वं सूच्यते। दिवौकसां स्वर्गनिवासिनां सर्वेषां सुराणां प्रियः। अतिसुरभिः, लोकातिसायिसौरभ्यगुणसमन्वितः, इन्द्राणीहृदयङ्गमो यातः। एवमेव स्वरूपमात्रतो न ते आदरः, किन्तु लोकातिशायिसौरभ्यगुणेन ते समादरः। त्वं याञ्चां याचकविहितां प्रार्थनां साधु समृद्धिगां वितनुषे, तत्पूर्तौ अपि प्रसरणशालिनीं तत्पूर्तिं वितनुषे। त्वदन्यः कः दाता? याञ्चा-

मात्रपूरको दाता दृष्टः, परं साधुसमृद्धिगाम् उत्तरोत्तरविवर्द्धमानसमृद्धिदाता त्वदन्यो नैवास्तीति भावः। एतेन तवौदार्यादिना अहं तुष्टोऽस्मि, किन्तु अज्ञेषु अत्यन्तमूर्खेषु सुधीषु विद्वद्वरेषु च ते तव समधियं समानभावनाम् एव दृष्ट्वा खिन्देतराम्। एतेन गम्यते त्वमविवेकीति भावः ॥९६॥

रत्नानाभाकरस्त्वं वहसि वहुतराण्येव निह्नुत्य तानि
क्षारं प्रान्ते जलौघं क्षिपसि जडमतीन्मोहयंस्तानि लब्धुम्।
को लाभस्तन्निगूहाद् भवति तव महद् दुर्यशः साधुवर्गे
दानाद् भूयोऽप्युपेयाः शतगुणमथवाऽनन्तशस्तत्प्रयच्छ॥९७॥

कश्चिच्छिष्यः तन्त्रमन्त्रशास्त्राद्यभिज्ञं योगादिक्रियासु निष्णातं सिद्धप्रायमाह—हे गुरो! तन्त्रमन्त्रयोगादिरत्नानामाकरः खनिरेवासि। तानि रत्नानि बहुतराणि निह्नुत्यैव गोपाययित्वैव वहसि दधासि। अणुमात्रतोऽपि तत्सत्तां न बोधयसि; प्रत्युत तानि लब्धुम् जडमतीन् मोहयन् आगतो महान् कल्लोलः इति महान्ति रत्नानि तत्र लप्स्यन्ते इति मोहयन् प्रान्ते तीरे भागे क्षारं जलौघं क्षिपसि। अन्यत्र कामपि मायां प्रदर्श्य स्वस्माद् विमुखीकरोसि। पुनः शिष्य आह—गुरो! तन्निगूहात् तेषां संवरणात् को लाभः को गुणः भवति, न कोऽपि गुणः; प्रत्युत दुर्यशः साधवस्त्वां निन्दिष्यन्ति। अथ दानाद् भूयोऽपि जन्मान्तरे उपेयाः, लप्स्यसे, शतगुणितम् अथवा अनन्तशः लप्स्यसे। तत्तस्मात् प्रयच्छेः। जन्मान्तरे अनन्त लाभेच्छया दीयताम्। गुरू रत्नाकरश्च, समानम्। जडं रत्नाकरं प्रति उक्तौ कः शृणोति, गुरुं प्रत्युक्तौ समुद्रं प्रति उक्तिरित्यन्योक्तिः। एवं सर्वत्रानुसन्धेयम् ॥९७॥

राधे ज्येष्ठे शुचौ च प्रतिदिनमनलं भानुसङ्घैः किरन्तं
भानुं संतोष्य वाढं प्रणतिततिपरैर्दीर्घघस्रा व्यतीताः ।
अस्मद्भाग्यात्कथञ्चिद् बहु वसु वितरंस्त्वं प्रपन्नोऽन्तरिक्षे
तृष्णाविध्मापकस्त्वं वितरसि दृषदः किं कृतिस्तेऽनुरूपा ९८

कश्चिदनुपपन्नः कृषको राज्यप्रधानमन्त्रिण आगतिं प्रतीक्षमाणो लाभेच्छयाऽतिष्ठत्, स चागत्य करवृद्धिमकार्षीदित्युपलक्ष्य आह—पिपासिताश्चातकप्रभृतयः मेघं कथयन्ति । राधे वैशाखे, ज्येष्ठे शुचौ आषाढे, भानुसंघैः किरणसमूहैः प्रतिदिनम् अनलम् अग्निं किरन्तं प्रणतिततिपरैर्वाढं भानुं संतोष्य दीर्घघस्रा व्यतीताः । अस्मद्भाग्याद् बहु अधिकं वसु धनं जलं च वितरन् "वसुतोयधने मणौ" इत्यमरः । त्वं कथञ्चित् स्वराज्यात् स्वतन्त्रत्वाच्च अन्तरिक्षे वायुयानेन ऊर्ध्वप्रदेशे प्रपन्नः । त्वं क्षेत्रमवलोक्य न्यूनं करिष्यसीत्यस्माकं तृष्णापूरकः अभिलषितपूरकः, पिपासाशमकश्च दृषदं करवृद्धिं पाषाणं च वितरसि । किम् इयं कृतिः ते अनुरूपा ? राज्यप्रधानमन्त्रियोग्या ? आरम्भिकमेघयोग्या ॥ ९८ ॥

शैत्यं लोकोत्तरं ते त्रिभुवनविदितं सौरभं सर्वमान्यं
कीर्तिर्हाहादिकैश्च त्रिदशपुरि सदा गीयते चाप्सरोभिः ।
किं चान्यद् वर्णयामः सकलगुणगणग्रामणीर्लोकवन्द्यः
किन्तु क्ष्वेडोज्झका ये तव गुणमहिमप्लोषकास्तान्नु धत्से ॥९९

कमपि लोकोत्तरमहिमानं दयादाक्षिण्यादिसमन्वितं सर्वस्तुतं सर्वमान्यं राजानं, खलानुचरैर्विदूषितमाश्रित्य चन्दनवृक्षमाह—सर्वथा योग्यः प्रशंसितश्च, किन्तु क्ष्वेडस्य गरलस्य उज्झकाः महाविषधरा ये तव गुणमहिम्नः प्लोषकाः, एतेन तव कीर्तिपरिपन्थित्वं तेषां सूच्यते, तान्नु धत्से । खलसंसर्गे राज्ञो न कीर्तिर्भवतीति भावः ॥ ९९ ॥

विद्यावाचामधीशादुपगतसकलज्ञानतत्त्वात्मभिर्यो
विद्यागेहात्कथश्चिद् विपथनिपतितान् द्वित्रशब्दान् गृहीत्वा।
स्पर्धां धत्ते स तस्मात् कलिसमयगतेरद्य श्वो वाऽपि भावी
सिंहैः शालावृकाद्यैः करिभिरपि शशैर्मन्यतेऽसौ रणः स्यात् १००

कश्चिदविवेककारी मूर्खः किञ्चिदधीत्य सर्वशास्त्रनिष्णातेन सर्वमान्येन विदुषा स्पर्धां धत्ते, तदेवाश्रित्याह—कलिसमयगतेः सिंहैः शालावृकाद्यैः, करिभिः शशैश्च असौ भावी रणः मया मन्यते। यदयं मया सह शास्त्रार्थं कर्तुमिच्छति, तत्तु पूर्वोक्तवदेव। "शालावृकाः कपिक्रोष्टुश्वानः" इत्यमरः। सिंहशालावृकादियुद्धकथनमेवान्योक्तिरिति। मया सह शास्त्रार्थकरणेच्छा सिंहशालावृकादीनाम्, शशगजानामायोधनमसंभवितम्, क्षणमपि न स्थायीति स्मारणात् तद्वन्मया सहास्य शास्त्रार्थेच्छा क्षणिकी भविष्यति, सिंहशाला-वृकादिवत्। क्वाहं क्व चायमिति भावः ॥१००॥

इति श्रीवाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयसम्मानितप्राध्यापक-
महामहोपाध्यायसोलनराजगुरुमथुराप्रसाददीक्षितकृतासु
अन्योक्तिषु प्रथमं शतकम्।

अथ द्वितीयं शतकम्

अथ द्वादशभिः शार्दूलवृत्तैराह—

सर्वेष्वेव समानया स्वकधिया वृक्षान् समारोपयन्
जातिं चम्पकमुन्नतौ समनयन्नीरैरतर्पीत्तथा ।
सर्वं साधु समाचरन् स वकुलं तत्याज कोणे स्थितं
तूर्णं स्वैर्हसितैः सुमैः स परितः सद्गन्धमातस्तरे ॥१॥

कश्चिदध्यापकः समभावेन पाठयन् अलौकिकप्रतिभाशालिनमेकं छात्रं कोणे स्थितं सोपेक्षमैक्षिष्ट, अथ स्वल्पेनैव कालेन स स्वप्रतिभाप्राखर्येण सर्वतो यशस्तस्तारेत्याश्रित्य वकुलं वर्णयति । अर्थः स्पष्ट एवेति न व्याख्याते । हसितैः विकसितैः सुमैः पुष्पैः । "ऋतश्च संयोगादेर्गुणः" इति गुणे 'तस्तरे' इति ॥ १ ॥

मा गर्वाद् हरिणा नदीपरिसरे क्रीडा विदध्युर्बहू-
र्नद्यां नीरविहारिणीमपि वृथा खेलां वितन्वन्त्वमूम् ।
अत्रैवोन्नतवारणो मदकलो दन्तावलो यूथपो
ग्राहेणाशु रसातलेऽप्यपहृतस्तिष्ठन्तु दूरे ततः ॥२॥

कश्चिद् योद्धा वल्गतो राजकुमारानुपदिशति, अत्रैव सेनासहितः सहस्र-योधी वीरः 'महामदो 'गौरी' एकाकिना काकाकह्लेन बध्वा नीतः, ततो मा

तिष्ठदित्युपलक्ष्य हरिणानाह—खेला "क्रीडा खेला च कूर्दनम्" इत्यमरः। मदकलः—मदेन कलः गम्भीरो ध्वनिर्यस्येति, यूथपः सेनापतिः प्रभुः। अन्यत् स्पष्टम् ॥ २ ॥

कासारे विमले जनिर्हरिशये वासोऽस्ति लक्ष्म्या गृहे
माधुर्यं रमणीमुखैश्च तुलितं सौन्दर्यमत्यद्भुतम्।
सर्वस्वं सुकवेरनङ्गविशिखो वृन्दारकाणां प्रियं
सौगन्ध्यं च दधासि पद्म किमहो मैत्र्यं द्विरेफैर्युतम् ॥३॥

कश्चित् साधुः सर्वगुणसम्पन्नं सुयोग्यं परम्परानुगतसदाचारिणं विट-मैत्र्यमापन्नं नृपमुपलक्ष्य पद्ममाह। सर्वं स्फुटमेव ॥ ३ ॥

भूतिस्ते जलधेः स्थितिः सुरपतेरुद्यानभूम्यग्रगा
शक्रस्त्रीहृदयङ्गमोऽतिसुरभिर्गन्धो दिवौकःप्रियः।
याच्ञां साधुसमृद्धिगां वितनुषे दाता त्वदन्योऽस्ति कः
किन्त्वज्ञेषु सुधीषु ते समधियं दृष्ट्वैव खिन्देतराम् ॥४॥

कश्चिद् सुधीः समभावेन मूर्खं विद्वांसं समाद्रियन्तं राजानमुपलक्ष्य कल्पवृक्षमाह—जलधेः समुद्रात्, भूतिः उत्पत्तिः; समुद्रमन्थनसमये तत एवास्याप्युत्पत्तिरिति पुराणप्रसिद्धम्। दिवौकसां प्रियः दिवौकःप्रियः। "त्रिदिवेशा दिवौकसः" इत्यमरः। अन्यत् सुगमम् ॥ ४ ॥

ये साधून् वचनैः स्वकैर्विदधते विश्वासभूमिस्थितान्
वाग्जालैरपि निग्रहे प्रतिगतान् कुर्वन्ति पापानुगाः ।
क्रूराः क्रूरधियो हरन्ति सकलं प्राणान् महावञ्चका
धत्से काश्यपि तानपि स्वशिरसा त्वत्तो विवेको गतः ॥५॥

कमपि धूर्तं महावञ्चकं पालयतो राज्ञः समीपे आगत्य ब्रुवतो विदुष उक्तिमाश्रित्य पृथिवीमाह—हे काश्यपि ! "क्षोणिज्यां काश्यपी क्षितिः" इत्यमरः । तान् खलान् धूर्तान् स्वशिरसा धत्से, त्वत्तो विवेको गतः । उक्तं च केनापि—"उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम् । तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे कथं वहसि ॥" पत्तनेष्वंविधा बहवः सन्ति ॥ ५ ॥

कुम्भिभ्रान्तधिया महाबलवता शैलाच्छिला पाटिता-
त्युग्रैः स्वैर्नखरैः खरैः प्रकुपता बाढं समुत्खर्जिता ।
पाषाणं परिभाव्य तामथ परित्यज्याकुलो निर्ययो
दैवादद्य करिद्विषाऽपि हरिणा क्रव्यं न चालभ्यते ॥६॥

केनापि सर्वतोभावेन प्रयत्नकरणे कार्यानिष्पत्तिमुपलक्ष्य सिंहकृत्यमुक्तम् । सर्वं स्पष्टमेव ॥ ६ ॥

जातः केशरिशावको घनरवं श्रुत्वोच्छलंश्चेष्टते
गन्तुं स्वं क्रमितुं च शक्तिविधुरं मत्वा जनन्याः पुनः ।
क्रोडे साधु निलीयते घुरघुरारावं वितन्वन् क्षणं
मौनः स्तन्यविलग्नकः शिशुरसौ शेते समुन्निद्रितः ॥७॥

विराटनरेशसुत उत्तरो गृहे वल्गमानो रणे असमर्थं मत्वा पलायत, गृहे स्थितः, तदेवाश्रित्य सिंहशिशुकृत्यमाह—जातमात्र एव पञ्चषदैवसिको

वा केशरिशावकः घनरवं मेघशब्दं श्रुत्वा उच्छलन् गन्तुं क्रमितुं च चेष्टते, स्वं शक्तिविधुरं शक्तिरहितं मत्वा पुनः जनन्याः क्रोडे साधु निलीयते; क्षणं घुरघुरारावं वितन्वन् मौनः स्तन्यविलग्नकः असौ शिशुः समुन्निद्रितः सन् शेते ॥ ७ ॥

यातं येन सरोवरे सुरभिते तारुण्यपूर्णं वयः
स्वीयैर्हंसमरालसारसगणैः संवत्सरा यापिताः ।
किञ्चान्यद् वरटा सदा सहचरी भव्या मनोहारिणी
सेदानीं कथमेष पल्वलतटे चैकाकिवासं नयेत् ॥८॥

कश्चिद् महाराजः स्वराज्यात् सम्राजा निष्कास्य ग्रामे वासितः, तमेवाश्रित्य हंसं वर्णयति—वरटा "हंसस्य योषिद् वरटा" इत्यमरः । सस् इदानीम् "सोचि लोपे चेत्पादपूरणम्" इति सलोपः, आद्गुणः=सेदानीम् । अन्यत् सुगमम् ॥ ८ ॥

पूर्वस्यां दिशि लोचने ह्यविरतं दत्ते चकोरीगणे
किञ्चिच्चैव विकासमानहृदये जाते तथा कैरवे ।
कामे धन्वति कार्मुके प्रियजने मानप्रलोपोन्मुखे
धातः किं करुणामपास्य विहितो धाराधराडम्बरः ॥९॥

उपायैः कार्यसिद्धौ निष्पन्नकल्पायां सत्यामीश्वरेच्छया विघ्ने संजाते प्रियजनमानचर्चामाश्रित्योक्तम् । सर्वेषां सिद्ध्युन्मुखेषु कार्येष्वेवमेवावगन्तव्यम् ॥ ९ ॥

निम्ब ! त्वां समुपागते पिकगणे रीढादृशं मा कृथाः
आरामे फलराजकैरपि महापूज्यः सदैवादृतः ।
गीरस्याशु धुनोति कस्य न हृदं प्रेमाकुलं तन्वती
स्वं भाग्यं समुपेहि यत्त्वयि गतः कामप्रियः कामकृत् ॥१०॥

कश्चिद् मन्त्राद्यभिज्ञः सकलशास्त्रनिष्णातः सम्राजाश्रितः केनापि कारणेन तत्स्थानमपहाय सामान्यराजद्वारमुपगतमनाद्रियमाणमवलोक्य कश्चिद् विद्वान् राजानमुपदिशतीत्याश्रित्य निम्बमाह—रे निम्ब ! त्वां समुपागते पिकगणे मधुरभाषिषु वरेण्ये इत्यर्थः, रीढादृशम् अनादरदृष्टिम् "रीढावमानानावज्ञा" इत्यमरः, मा कृथाः । अत्र "ह्रस्वादङ्गात्" इति सिचो लुक् "न माङ्योगे" इत्यटो निषेधः । आरामे उपवने फलराजकैः सदैवादृतश्च, प्रेमाकुलं तन्वती अस्य गीः कस्य आशु हृदं न धुनोति ? स्वं भाग्यं समुपेहि, यत् कामप्रियः कामकृत् त्वयि गतः । "यत्तदोर्नित्यसम्बन्धेऽपि उत्तरवाक्यगतो यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं नापेक्षते" इति ॥ १० ॥

रे रे कोकिल ! सन्निधौ वनगतः कालं मधोः प्रेक्षतां
यावन्नो सहकारकोऽतिरजसः सूते शुभा मञ्जरीः ।
गुञ्जन्तो भ्रमरा यदा प्रियरसाकृष्टा मधुप्रेप्सवो
नेष्यन्ते हि सखे ! द्विरेफसहितो यायास्तदा त्वं च ताम् ॥११॥

कश्चिद् विवाहाकुलं सखायमुपदिशति । नाद्यावधिपर्यन्तं तारुण्यं रजोधर्मं चापन्ना, नापि शुभलग्नकालः । यदा मधौ गायन्तो भ्रमरा यास्यन्ति, तदा त्वमपि यायाः, अवश्यं कतमां त्वमपि लप्स्यसे इत्युपक्रम्य कोकिलमाह—रे रे इति प्रियामन्त्रणे । रे रे कोकिल इत्यादि सुगमम् । मञ्जरीः इति बहुवचनम्, एकत्वोपादाने रसाभासः स्यात् ।

त्वमपि यायाः इति प्रेरणम्। हि इति निश्चये अवश्यं यायाः। अन्यत् स्पष्टम् ॥ ११ ॥

अथ पञ्चदशभिरिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रादिभिराह—

सर्वं वयो वारिजमध्यनीतं
पीतं सदा तन्मकरन्दमम्भः।
राज्ञा गृहीते सकले जलौघे
शुष्के सरस्यद्य हतोऽस्म्यनाथः ॥१२॥

कश्चिद् भूमिपालः स्वग्रामाधिपत्येन सर्वसुखमुपभुञ्जानो राज्ञा तदाधिपत्येऽपहृते असहायः संजातः, तमेवोपलक्ष्य हंसादिकमाह—स्वतन्त्रजीवनसहायकस्य जलौघस्य राज्ञाऽपहृतत्वात् सरसश्च शुष्कत्वाद् हतोऽस्मि, अनाथः संजातः इति ग्रामाधिपमुद्दिश्य हंसवर्णनम् ॥ १२ ॥

दीव्यन्ति कार्यैरमृतान्धसस्ते
नयन्ति कामान्मनुजाः सुगन्धम्।
युक्तो न चेत्त्वं च सरीसृपैः स्याः
कः साम्यमायातु वसुन्धरायाम् ॥१३॥

कश्चित् सर्वगुणसम्पन्नं राजानं दुष्टजनैर्व्याप्तमुपलक्ष्य चन्दनमाह—लोकाः ते तव कार्यैः चन्दनैः अमृतान्धसः देवान् दीव्यन्ति पूजयन्ति। मनुजाः मनुष्याः कामान् अभिलषितान्ः सुगन्धं तवोत्तमगन्धं नयन्ति। चेत् त्वं च सरीसृपैः विषधरसर्पैर्युक्तः न स्याः, तर्हि वसुन्धरायां कः साम्यम् आयातु ? न कोऽपीत्यर्थः। सुगन्धेन कामान् नयन्ति, अकथितं चेति कर्मत्वम् ॥ १३ ॥

क्ष्वेडं क्षिपद्भ्योऽपि ददासि तुष्टिं
पुष्टिं विधत्से फणिनां मनोज्ञाम् ।
त्वां घर्षतां त्वं मनसः प्रसत्तिं
करोषि कोऽन्यस्तव साम्यमिच्छेत् ॥१४॥

कश्चित् स्वविरुद्धाचारिणं सर्वथोपकुरुते, तमाश्रित्य चन्दनमाह—त्वं क्ष्वेडं विषं क्षिपद्भ्योऽपि तुष्टिं ददासि, तान् तोषयसीत्यर्थः । फणिनां सर्पाणां मनोज्ञां मनोहराम्, पुष्टिं विधत्से । "कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्" इत्यमरः । त्वां घर्षतां मनसः प्रसत्तिं त्वं करोषि । एवं विरुद्धाचारिणः उपकर्तृत्वे, कः अन्यः तव साम्यम् इष्येद् गच्छेत् । इष गताविति-दैवादिकस्येदम् ॥ १४ ॥

दूरं प्रयातो मलयाद्रिमध्ये
भुजङ्गमैश्चापि विलिप्तकायः ।
आशीविषैर्व्याप्तसमप्रदेशो
विधेर्विधानात् परिकृत्यसे त्वम् ॥१५॥

कश्चित् स्वरक्षार्थं परीक्षितवत्समस्तानुपायान् अकार्षीत् ; तथापि गृहीतो हन्यते चेत्युपलक्ष्य चन्दनमाह—अत्युन्नतप्रदेशे यातः, भुजङ्गमैश्च सर्वोऽपि देहो लिप्तप्रायः श्यामवर्णशरीरः संजातः । तत्रत्यप्रदेशोऽपि आशीविषैः सर्वो व्याप्तो वर्तते । एवं रक्षितोऽसि, तथापि त्वं विधेर्विधानात् परिकृत्यसे ॥ १५ ॥

शरीरमध्यादपि कीकसेभ्यो
निष्कास्यते ते मसृणं सुसारम् ।
न चाकृतौ त्वं कुरुषे विकारं
त्यजस्यहो नाम तथापि नैव ॥१६॥

कोऽपि पाश्चात्यो वीरस्य भगतसिंहस्य ताडनतर्जनादिविधानेपि आकृतौ वैषम्याभावमवलोक्य साश्चर्यं तस्थौ, तदेवाश्रित्य चन्दनमाह—ते तव शरीरमध्यात् कीकसेभ्यः अस्थिभ्यश्च शोभनं सारभूतं मसृणं तैलं निष्कास्यते, परन्तु त्वम् आकृतौ विकारं नैव कुरुषे । परन्तु मसृणे तैले नाम तथापि न त्यजसि, तैले तवैव नामास्तीति भावः ॥ १६ ॥

शोषं प्रयाते मयि पक्षिसंघो
विहायसैवैष्यति काननेषु ।
भृङ्गाः सुगन्धिन्यथ भूमिपद्मे
मीनाः कथं केन पथा व्रजेयुः ॥१७॥

मुमूर्षुः कश्चिद् राजा चिन्तयति, मयि मृते सति मन्त्रिप्रभृतयो देशान्तरम्, अनुचराश्च अन्यं राजानं धनिकं वा व्रजेयुः; परन्तु मातरो राज्यश्च कथं केन मार्गेण कं गच्छेयुरिति राजचिन्तामाश्रित्य तडागं वर्णयति, तडागश्चिन्तयति—मयि शोषं प्रयाते नष्टे सति पक्षिसङ्घः आकाशमार्गेण एव गमिष्यति, भृङ्गाः सुगन्धिनि भूमिपद्मे (गुलाबे) एष्यन्ति; मीनाः कथं केन पथा व्रजेयुः ? नास्ति तेषां गमनोपायः, ते इहैव शोषिष्यन्ति मरिष्यन्ति चेति भावः । भृङ्गाः इति बहुत्वाद् विभक्तिविपरिणामः । यद्वा भृङ्गाः सुगन्धे वकुले नयेयुः । वृक्षे अविभागेन लक्ष्यमाणाभावात् "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इति नेत्वम् । सम्भावनायां व्रजेयुरिति लिङ् ॥ १७ ॥

गुञ्जायमाने भ्रमरेऽतिपार्श्वं
वासन्ति मानं न मुधा विधत्स्व ।
यास्यत्ययं द्राग् नवमल्लिकायां
तापं गमिष्यस्यपरं पुनः किम् ॥१८॥

काचित् मानिनीं सखीं बोधयति—अतिपार्श्वमनुनयति सति नायके मुधा मानं मा विधेहि; अतिमाने अयं द्राग् अन्यां यास्यति; पुनः तापं गमिष्यसि । अपरं किम् इत्याश्रित्य वासन्तीं लतामाह । सर्वं स्फुटमेवेति ॥ १८ ॥

वाढं भ्रमद्भिर्भ्रमरैर्भवद्भिः
किं क्वापि दृष्टः सहकारतुल्यः ।
सुधां मुधा यः कुरुते धरायां
राज्ञादृतो दीनगणैश्च योग्यैः ॥१९॥

सर्वस्यैव प्रसत्तिकरं रक्षकं च राजानमुपलक्ष्य सहकारं प्रस्तौति—वाढं सातिशयं भ्रमद्भिर्भ्रमरैर्भवद्भिः किं क्वापि सहकारसदृशो दृष्टः ? यः सुधाम् अमृतं मुधा कुरुते । सहकारस्वादुमाधुर्यादिसमक्षम् अमृतं व्यर्थमेव । स धरायां पृथिव्यां राज्ञा, योग्यैः साधारणस्थितिमापन्नैर्दीनगणैः दरिद्रैश्च सर्वैरादृतः । यः सर्वैरादृतः सुधां मुधा कुरुते इति भावः । एवं सर्वादृतो राजा स्वर्गाद् देवेभ्यश्चोत्तमः ॥ १९ ॥

एषा हिमानी सुषमां तरूणां
विनाशयन्ती जनतार्तिदात्री ।
तथापि धत्से शिरसा त्वमेनां
दृष्टो गुणोऽस्याः परिपालने कः ॥२०॥

कश्चिद् राज्ञो मन्त्री लाभं विनाशयति, प्रजाः दुःखयति; तथापि राजा सर्वेषामाधिपत्ये तं विधत्ते इति तं राजगुरुराह, तदेवाश्रित्य कश्चिद् हिमाचलमाह—एषा हिमानी हिमसंहतिः तरूणां सुषमाया विनाशिका जनतार्तिदात्री च अस्ति; तथापि त्वम् एनां शिरसा धत्से, अस्याः परिपालने कः गुणः दृष्टः ? व्यर्थमेव जनतादुःखदात्रीं पालयसीति राजानं शिक्षयति ॥ २० ॥

सदा समीचीनगुणो महात्मा
महोपकारं कुरुते जनानाम् ।
मृतो रसो जीवयते मृतं द्राग्
बद्धोऽप्यसौ खेचरतां विधत्ते ॥२१॥

महात्मा मृतः सन्नपि परोपकारं कुरुते इति दर्शयन् पारदं वर्णयति—रसः पारदः । सर्वं स्पष्टम् ॥ २१ ॥

अन्यागते छेदभिया न कम्पितं
मनो गुणानाश्रयणान्महीरुहाम् ।
जीवन्ति लोके सुखिनः सुशाखिनः
न चन्दनस्यानुगतिं समाश्रिताः ॥२२॥

गुणयुक्तो राज्ञा गृहीतो भवति, तेन ग्रामकुटुम्बसहवासादिसुखेन मुच्यते इत्याश्रित्य चन्दनच्छेदविधया दर्शयति—अन्येषां वृक्षविदारकाणामागते

छेदभिया गुणानाश्रयणात् सौगन्ध्याभावाद् महीरुहाणां मनः न कम्पितम्, छेदनहेतोरभावात् । ये चन्दनस्य अनुगतिं न समाश्रिताः, ते सुखिनः सुशाखाभिर्युक्ता जीवन्ति । वंशस्थवृत्तेन्द्रवंशावृत्तयोरुपजातिः ॥ २२ ॥

श्यामे कुरूपेऽपि च रागयुक्तां
वाचाटकाग्र्येऽपि विकाशमानाम् ।
चाञ्चल्ययुक्तेऽपि कुमुद्वतीं त्वं
त्वय्येव सक्तां नु कथं जहासि ॥२३॥

कमपि स्वस्त्रियं त्यजन्तं तत्सखी सोपालम्भं प्रतिबोधयति—श्यामे श्यामवर्णे, अथ च कुरूपे कुत्सितस्वरूपे च त्वयि रागयुक्ताम् अनुरागवतीम् रक्तवर्णां सप्रेमां वाचाटकाग्र्येऽपि अतिवाचाटकेऽपि विकाशमानाम्, सुप्रसन्नां प्रफुल्लितां च । "आलाटौ कुत्सितभाषिणि" । वाचाटः । चाञ्चल्ययुक्तेऽपि त्वयि कुमुद्वतीम्, न तु विरुद्धाम्; त्वय्येव सक्तां कथं नु जहासि ? नैवैतदुचितम् । कौ पृथिव्यां मुद्वतीं मोदयुक्तामित्यर्थः ॥ २३ ॥

कण्टकैः परिवृतोऽसि बर्बर !
त्वां कथं समुपयान्तु कोविदाः ।
त्वं फलैः सुकुसुमैश्च वर्जितः
कस्य लाभसुधिया व्रजन्तु ते ॥२४॥

कण्टकैर्दुष्टजनैर्व्याप्तं स्वभावतोऽपि दुष्टं दरिद्रं कमप्याश्रित्य बर्बरमाह—त्वं फलैः सुकुसुमैश्च रहितः, कस्य लाभेच्छया ते कोविदाः त्वां व्रजन्तु ? निष्प्रयोजनत्वात् कण्टकाकीर्णत्वाच्च न त्वां विद्वांसः समुपगच्छन्तीति भावः ॥ २४ ॥

दुर्जनः शमविधौ नभःसुमं
सज्जने न हि दयां करोति सः ।
स्वं यशश्च तनुतेऽतिमेचकं
लोकदुःखजनने दृढव्रतः ॥२५॥

सुखलाभेच्छया दुर्जनं गच्छन्तं सखायमाह—दुर्जनः शमविधौ गगन-कुसुमसमः, सर्वथा तदभावात्; नहि तत्र शान्तिलेशोऽपीत्यर्थः । सज्जने भवादृशे सः दयां नैव करिष्यति, लोकदुःखोत्पादने दृढप्रतिज्ञोऽस्ति । स्वं यशः अतिश्यामं तनुते । "कालश्यामलमेचकाः" इत्यमरः । दुर्जनस्वभाववर्णनेन दुष्टं राजानं लाभेच्छया गच्छन्तं सखायं प्रतिषेध-यन्नाह ॥ २५ ॥

प्रभां सुतीक्ष्णैर्वचनैर्गुरूणां
नीताः सुसेवाभिरवाप्तविद्याः ।
तिष्ठन्ति राज्ञामपि मूर्ध्नि भाभिः
कषोपयाता मणयस्तु चैवम् ॥२६॥

कश्चिद् राजमान्यं कमपि दरिद्रगृहजातमलौकिकविद्वांसमालोक्य स्वमित्र-माह—अहो कथमेष राजमान्यः संजातः । स च मणिदृष्टान्तेनाह—सुतीक्ष्णै-र्गुरूणां वचनैः प्रभां नीताः, सुसेवाभिरवाप्तविद्याः राज्ञामपि मूर्ध्नि भाभि-र्विद्याविद्योतेन तिष्ठन्ति । कषोपयाता मणयो भाभिः एवमेव राज्ञामपि मूर्ध्नि तिष्ठन्ति ॥ २६ ॥

वसन्ततिलकावृत्तेनाह—

काकैर्वकैरिह पराभवमापितस्त्वं
वैधेयकेषु खलु तेषु दृशं न कुर्याः ।
हंसैर्विवेककुशलैः कृतिभिः सदा यत्
संसेव्यसे त्रिभुवने विदितं समाजे ॥२७॥

कमपि मूर्खैस्तिरस्कृतं स्वमित्रमुपलक्ष्य मानसरोवरमाह—काकैर्वकैरिह पराभवं तिरस्कारम् आपितः त्वं वैधेयकेषु मूर्खेषु तेषु दृशं न कुर्याः । यद् विवेककुशलैः कृतिभिः विद्वद्भिः सदा संसेव्यसे इदं त्रिभुवने समाजे विदितम् । विद्वद्भिराहृतस्त्वं मूर्खाधमकृत्येषु दृक्पातं मा कार्षीः ॥ २७ ॥

विद्वत्समाजमुपगत्य खलस्य कृत्य-
भाजन्मनः सकलमेव विविच्य वक्ष्ये ।
यद्वा तदीययशसः शितितैव लोकान्
प्रत्यक्षतः कथयतीत्यलमस्य नाम्ना ॥२८॥

कश्चिद् विवेकपटुर्विद्वान् खलकृतिरुष्टो मनसि विचारयति, अहं विद्वत्समाजे गत्वा अस्य खलस्य जन्मप्रभृतितः सकलमेव कृत्यं वक्ष्ये इति विचार्य निश्चिनोति । यद्वा अलमस्य नाम्ना; तदीययशसः श्यामतैव प्रत्यक्षतः लोकान् कथयति इति मित्रं प्रति रिपोर्दुष्टताप्रकाशाय विचारयति । यद्वा इत्यनेन अयशोवर्णनादन्योक्तित्वं सूपपद्यते ॥ २८ ॥

कर्णेजपस्य रसना विधिना भुजङ्गी
नीताऽस्ति तस्य लपने सुधियो निहन्तुम् ।
दंशं विनापि निजचालनतो विधत्ते
कृन्तत्यमन्त्रकुशलं नृपतिं परं च ॥२९॥

कर्णेजपः अकारणमेव लोकान् निहन्तीति तत्स्वरूपमाह—कर्णेजपः पिशुनः "कर्णेजपः सूचकः स्यात् पिशुनो दुर्जनः खलः ।" इति; लपने मुखे "आननं लपनं मुखम्" इति चामरः । अमन्त्रकुशलं नृपतिं परं च कृन्तति । मन्त्रकुशलं विचारपूर्वककार्यकारिणम्, न तु पिशुनवचनश्रवणमात्र-प्रामाण्यकारिणम्, कृन्तति, नैव हन्तीति भावः । अन्यत् स्पष्टम् । दुष्टमुख-भुजङ्ग्या वर्णनेन दुष्टस्य कृत्ये वैलक्षण्यं दर्शितम्, यज्जिह्वाचालनमात्रतो दंशनमकृत्वैव अविवेकिनं हन्ति ॥ २९ ॥

क्षुद्रैः श्रृगालशशकादिभिराकुलेऽस्मिन्
वाढं कुरुष्व विपुलानि च बृंहितानि ।
ज्ञास्याम्यहं तव मदं हरिहुंकृतौ स्यात्
स्थाताऽथवा हरिसमक्षमपि ब्रुवीथाः ॥३०॥

कश्चित् साधारणपठितः पण्डितंमन्यः मूर्खसमुदाये लोकातिशायिनमात्मानं वदन्तं वल्गन्तम्, विदुषां समक्षं तु नैवं वदतीति केनचिदुक्तमुपलक्ष्य हस्तिन-माह—बृंहितानि गर्जितानि श्रृगालादीनां मध्ये वाढं कुरुष्व, ज्ञास्याम्यहं तव मदं यदि हरिहुङ्कृतौ स स्यात् । हरिहुङ्कारमात्रेण मदो विलीयते, अथवा हरिसमक्षं स्थाता ब्रुवीथाः, तत्समक्षं तु मुखे हस्तं दत्वा चरण-निपतितस्तिष्ठसि । हस्तिस्वभाव एवैषः । एवमेव त्वं विदुषः समक्षं भवसीति भावः ॥ ३० ॥

पद्मैष ते परिमलं भुवने विवृण्वन्
गृह्णाति नैव लवमात्रमपि स्वपुष्ट्यै ।
अद्यापि सन्ति सुजना बहवः क्षमायां
ये निःस्पृहाः परयशःप्रथनव्रताश्च ॥३१॥

निराकांक्षतया परयशःप्रख्यापकमाश्रित्य कह्लारं प्रति वायुं प्रशंसति— हे पद्म ! एष वायुः ते तव परिमलं जनमनोहरं सुगन्धं भुवने विवृण्वन् स्वपुष्ट्यै लवमात्रमपि नैव गृह्णाति। एतेन सर्वथा स्वार्थाभावः सूच्यते। उत्तरार्धः स्पष्ट एव ॥ ३१ ॥

याते मधौ सुमनगे कणिशे विपक्वे
लाभोन्मुखे च कृषके बहु चिन्त्यमाने ।
व्योमागतोऽसि विपुलं ध्वनिमाददानो
हा किं विशालकरकैः कुरुषेऽतिवृष्टिम् ॥३२॥

सिद्धकल्पे कार्ये विनाशयन्तं दुष्टमुपलक्ष्य मेघमाह—मधौ चैत्रे मासि "स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः" इत्यमरः, याते सुमनगे गोधूमगते कणिशे विपक्वे सति। "सिद्धार्थस्त्वेष धवलो गोधूमः सुमनः समौ" इति; "कणिशं सस्यमञ्जरी" इति चामरः। कृषके लाभोन्मुखे बहु चिन्त्यमाने अस्मिन् वर्षे बहुतरलाभाद् एवं विधास्यामि, एवं करिष्यामि इत्यादि मनोराज्ये वितरति सति, व्योमागतः अतिशयितं ध्वनिम् आददानः गृह्णन् सर्वतोभावेन व्याप्तं कुर्वन् हा विशालकरकैः बृहत्तरपाषाणैः अतिवृष्टिं किं कुरुषे ? हा सर्वं नाशितमिति भावः ॥ ३२ ॥

रे रे पयोज ! मकरन्दसुरक्षयैवं
संकोचमावह निशि भ्रमरस्य भीत्या ।
एषोऽनिलोऽवनितले तव कीर्तिराशिं
प्रस्तारयिष्यति परागमुपेत्य लोके ॥३३॥

चौरादिभ्यः स्वकं धनं रक्षसीति तु युक्तम्, परमस्मै मुक्तहस्तः सन् कोश-मुद्घाट्य धनं देहि, एष लोके ते यशः प्रस्तारयिष्यतीत्युपलक्ष्य कमलमाह—परागं पुष्परजः । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

देवाश्रितोऽपि फणिभिः परिरक्षितोऽपि
पाटीर ! गन्धगुणतः खलु छिद्यसे त्वम् ।
अन्यो महीरुहगणो गुणवर्जितः सन्
शाखाशतैरपि सदा सुफलानि दत्ते ॥३४॥

कस्तूरिकामृगवद् गुणवान् अपि हन्यते इति मित्रं कथयन् चन्दन-माह—भो पाटीर ! त्वं गन्धगुणतश्छिद्यसे । सर्वं सुगममन्यत् ॥ ३४ ॥

यो निःस्पृहो बहुफलानि सदैव दत्ते
शुक्रे प्रचण्डरवितप्तजनाय सौख्यम् ।
शीतातपानलसमुद्भवदुःखजालं
स्वस्मिन् वहति तं प्रणतोऽस्मि भूयः ॥३५॥

निःस्पृहमुपकारिणं दातारं परदुःखनिवारणाय स्वयं दुःखं सहमानं च महात्मानमुपलक्ष्य फलवन्तं वृक्षमाह—सदैव प्रतिवर्षं स्व-ऋतौ शुक्रे

ज्येष्ठे । प्रचण्डमध्याह्नकालिकसूर्यसंतप्ताय जनाय सौख्यं दत्ते । अन्यत् सुगमम् ॥ ३५ ॥

स्वेदः कलेवरभवो वहते नितान्तं
कण्ठौष्ठशोषवशतो न सरन्ति वाचः ।
वैरस्यमेति वदने नयनेऽम्बुजालं
किं नाम याचनगतौ मरणेऽस्ति भेदः ॥३६॥

याच्ञावृत्त्या कार्यं सिसाधयिषन्तं सखायं मृत्युवद् दुःखजनिकां मृत्युमाह—सर्वं सुस्पष्टमेव । "अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युः" इत्यमरः ॥ ३६ ॥

लब्ध्वा वसु त्वमुपसृत्य महोन्नतिं च
व्यर्थं किमर्थमिह दर्शयसे स्वगर्वम् ।
क्षेत्रं कृषीवलजनस्य विशुष्कमाणं
मुक्त्वाऽप्सु तत् क्षिपसि मूर्ख ! न ते विवेकः ॥३७॥

कश्चित् कुतोऽपि धनं लब्ध्वा गर्वं कुर्वन्तमुपलक्ष्य जलधरमाह—त्वं वसु जलं धनं च लब्ध्वा, "वसु तोयधने मणौ" इत्यमरः । महोन्नतिम् उपसृत्य प्राप्य, इह व्यर्थं किमर्थं स्वगर्वं दर्शयसे ? किमर्थमिह गर्जसीत्यर्थः । कृषीबलस्य कृषकस्य विशुष्कमाणं क्षेत्रं मुक्त्वा तद् वसु जलम् अप्सु क्षिपसि । मूर्ख ! ते विवेकः न । जलस्य जले एव क्षेपणम्, शुष्कक्षेत्रे नेति विवेकशून्यः, अन्यत्र धनिकेभ्यो दानमित्यविवेकः । यथा—

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ ३७ ॥

निर्माति वेश्म गगने जलधौ सुलेखं
ग्रथ्नाति वायुमपि मन्त्रणमेडपार्श्वे ।
अन्धं च दर्शयति दर्पणमज्ञतो ज्ञां
यो दुर्जनैर्वहति शान्तिसुखाय मैत्रीम् ॥३८॥

शान्तिसुखाय दुर्जनैः सह मैत्रीकरणं पूर्वोक्तवद् अनुपयुक्तमेव ॥ ३८ ॥

पाटीर ! तेऽस्ति जनकः शिखरी सखायो
व्यालाश्च बान्धवगणास्तरवो विभिन्नाः ।
एवं स्थितौ त्रिभुवने भवतः सुकीर्तिः
कोऽन्यस्तवानुकरणे भुवने क्षमः स्यात् ॥३९॥

कमपि जन्मतः असत्सहचारिणं लोकोत्तरविद्वांसं विख्यातयशस्कमुपलक्ष्य चन्दनमाह—भो पाटीर ! ते जनकः शिखरी महाजडः, सखायः मित्राणि व्यालाः क्रूराः उष्णस्वभावाश्च, बान्धवाः विभिन्नाः गन्धरहिताः दुर्गन्धाश्च तरवः । एवमयोग्यानां मध्ये स्थितावपि त्रिभुवने भवतः कीर्तिः । भुवने संसारे तव अनुकरणे कः अन्यः क्षमः स्यात्, न कोऽपि एवं स्थितौ ईदृशो भवितुं शक्नोति ॥ ३९ ॥

अथ विभिन्नवृत्तैस्ताः कथयति—

मा विधेहि कुट ! पार्श्वमुपेते
षट्पदे धृतियुते बहुगर्वम् ।
पश्य चैष विबुधद्रुममान्यः
सादरं स्वशिरसा ध्रियते तैः ॥४०॥

कश्चिद् विद्वान् गर्वाल्लोकमान्यं पण्डितमनादृणन्तं राजानमुपलक्ष्य वृक्षमाह—हे कुट ! वृक्ष ! "अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः"

इत्यमरः । पार्श्वम् उपेते धृतियुते षट्पदे बहुगर्वं मा विधेहि । पश्य एष च विबुधद्रुमाणां पञ्चानामपि देवतरूणां मान्यः, तैः सादरं स्वशिरसा ध्रियते । "स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्" इति स्वागतावृत्तम् ॥ ४० ॥

निर्जरद्रुमनिषेवणपूज्यः
चेतसा सकलपूरितकृत्यः ।
चेद् द्रुमान्तरगतौ तव लिप्सा
हन्त किं भ्रमर! नैव गुणज्ञः ॥४१॥

कश्चिद् सम्राजः सदने स्थितः कृतकृत्यः सर्वविधसुखसम्पन्नो राजान्तरं जिगमिषति, तमाश्रित्य भ्रमरमाह । सर्वं सुस्पष्टम् । छन्दः पूर्वोक्तमेव ॥ ४१ ॥

रक्तरूपमनुयाति विभाते
घस्रमध्यमगतो ह्यपरोऽसौ ।
तद्द्वयादपि विलक्षणरूपः
सायमेति कृकलासमहात्मा ॥४२॥

कश्चित् प्रपञ्ची साधुः वेषभूषाभिस्त्रिसन्ध्यं त्रिधा रूपं परिवर्तयति, तं कृकलासं वर्णयति । अर्थः सुगमः ॥ ४२ ॥

अखिलभुवनचेतो हारिणी यस्य मूर्तिः
सुहृदयसुवचोभिः सर्वदा लोकमान्यः ।
स भवति यदि रुष्टस्तस्य रोषोऽपि पूज्यः
प्रभवति च कटुत्वं काश्मरीजं सुखाप्त्यै ॥४३॥

कश्चित् कमपि महात्मनः स्वरूपं निर्दिशति—तस्य रोषोऽपि पूज्यः; यथा काश्मरीजं कटुत्वं सुखजनकं भवति, तथा तस्य रोषोऽपि परिणामसुखकारी दोषनिवर्तकश्च । मालिनीवृत्तम् ॥ ४३ ॥

सरसिज ! मकरन्दं षट्पदास्ते पिबन्तः
तव नयनपथिस्थाश्चाटुकारान् ब्रुवन्तः ।
दिशि विदिशि समज्ञां ख्यापयन्निःस्पृहः क-
स्तव सुरभितगन्धं बोधयेद् वायुतोऽन्यः ॥४४॥

कश्चिद् राज्ञः धनं सम्पत्तिं गृह्णतां चाटुकारं समक्षं ब्रुवतां निराकरणेन यशःप्रख्यापको विद्वान् स्वीकार्य इत्युपलक्ष्य कमलमाह—सरसिजेत्यादि सुगमम् । समज्ञां कीर्त्तिं "यशः कीर्तिः समज्ञा च" इत्यमरः ॥ ४४ ॥

सलिलज ! तव कीर्तिं सर्वतोऽसौ विधत्ते
प्रथयति शुभगन्धं दिक्षु सर्वासु वाढम् ।
क्वचिदपि नहि दृष्टो निःस्पृहस्तत्समानः
पवनगतगुणौघं कोऽस्ति वक्तुं समर्थः ॥४५॥

कश्चिद् राजानं प्रति यशःप्रख्यापकं पण्डितमुपलक्ष्य कमलमाह—हे सलिलज ! असौ पवनः तव सर्वतः कीर्तिं विधत्ते, सर्वासु दिक्षु वाढं शुभगन्धं प्रथयति-प्रख्यापयति । तव समानः क्वचिदपि निःस्पृहः नहि दृष्टः । पवनगतगुणौघं कः वक्तुं समर्थः, न कोऽपि इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

शिरिषकुसुमगन्धं प्राप्तुमिच्छन् द्विरेफ-
श्चपलतरपदानि स्वानि पुष्पे व्यधत्त ।
निपतति कुसुमेऽसौ मन्दभाग्योऽतिगुञ्जन्
विधिलिखितमृदुत्वं तस्य भूयो निनिन्द ॥४६॥

कश्चित् किमपि जिघृक्षन् तत्करस्पर्शाद् विनष्टे तस्मिन् तन्निर्मितिं निनिन्देत्याश्रित्य भ्रमरशिरिषपुष्पयोरितिवृत्तमाह । अर्थः स्पष्ट एवेति न व्याख्यायते ॥ ४६ ॥

भ्रमर ! साध्वमरद्रुमकौसुमं
मधुपरागसुगन्धमपीप्सितम् ।
हृतमथाप्यपरे व्रजसि द्रुमे
कमतिचञ्चलतां कथयेम ते ॥४७॥

कश्चित् कस्यचिद् राज्ञः सविधे अधिमतमैश्वर्यमुपभुज्य अपरं राजानं जिगमिषन्तमुपलक्ष्य भ्रमरमाह—हे भ्रमर ! साधु सम्यक्प्रकारेण अमरद्रुमस्य कौसुमं कुसुमसम्बन्धि ईप्सितम् अभिमतम्, यावदिच्छं मधुपरागसुगन्धं हृतम् । "जातिरप्राणिनाम्" इत्येकवद्भावः । अथापि अपरे अन्यस्मिन् द्रुमे वृक्षे व्रजसि, ते अतिचञ्चलतां कं कथयेम ? तत्कथने न किमपि फलमस्तीति भावः । द्रुतविलम्बितच्छन्दः ॥ ४७ ॥

सकलकुसुमगन्धो लीयते यत्समक्षं
तदमरतरुपौष्पं साधु भुक्त्वा परागम् ।
कथमवरतरौ त्वं गन्तुमिच्छां विधत्से
न खलु विधिविधानं कोऽपि छेत्तुं समर्थः ॥४८॥

सर्वविधसुखस्थाने स्थितोऽपि अन्यत्र दुःखस्थाने जिगमिषति, तमाश्रित्य भ्रमरमाह—एवं सुखस्थाने स्थितोऽपि अन्यत्र व्रजसीति मन्ये विधिविधानं भवितव्यतां कोऽपि निवारयितुं समर्थो नास्तीति । मालिनीवृत्तम् ॥ ४८ ॥

कलभ ! मा कुरु सन्निधिमागते
मधुकरेऽतितिरस्कृतिमाशुगे ।
करिवरैरपि मत्तमतङ्गजैः
स्वशिरसैव धृतोऽप्यतिमानतः ॥४९॥

नव्यस्य राजकुमारस्य सन्निधिमागतं कमपि विद्वांसं तिरस्कुर्वन्तं कुमारमुपलक्ष्य करिशावकमाह—अर्थः स्फुट एवेति न व्याख्यायते । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ४९ ॥

अथ पुनः स्रग्धराशार्दूलवृत्तादीन्याह—

मुक्ताभक्षणचातुरीसुयशसो हंसाः सदा विश्रुता
दैवान्नीरसमानसेऽपि सरसि स्थित्वाऽन्तिमं लेभिरे ।
नो पारावततुल्यतामुपगताः खादन्ति ते शर्करां
प्राणानाशु सुखं त्यजन्ति मलिनां नायान्ति नीचक्रियाम् ॥५०॥

प्राणापत्तावपि सन्तः नीचक्रियां न स्वीकुर्वन्तीत्युपलक्ष्य हंसं वर्णयति । अर्थः स्फुट एव । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥ ५० ॥

कासारे कमलाकरे बहु वयो यैः प्रापितं प्रीतितः
सानन्दं मधुरं पिबद्भिरमृतं पौष्पं रसं कान्तया ।
दैवादद्य विशुष्कतामुपगते रिक्ते च पद्माकरे
खोड्डीना भ्रमरा भ्रमन्ति परितो गच्छन्त्यहो किंशुकम् ॥५१॥

राज्ञो राज्ये सुखपूर्वं स्थिता विद्वांसो विनष्टे राज्ये इतस्ततो भ्रमन्तो भूमिधरमाश्रित्य तिष्ठन्तीति भ्रमराणामितिवृत्तेनाह—कमलानामाकरे खनौ

कासारे सरोवरे यैर्भ्रमरैः प्रीतितः बहु वयः प्रापितं नीतम्; शुष्के सरसि अद्य खे आकाशे उड्डीनाः, परितः सर्वतश्चतुर्दिक्षु भ्रमरा भ्रमन्ति, अहो किंशुकं पलाशं गच्छन्ति, योग्यस्थानाभावात् पलाशं व्रजन्तीति भावः। अन्यत् स्पष्टम् ॥ ५१ ॥

वेदान्ते कुशलोऽस्ति गौतममुनेस्तत्त्वेषु सत्तत्त्ववित्
सांख्ये चाक्षपदे कुशाग्रधिषणो बार्हस्पते गीष्पतिः।
बौद्धार्हत्यनिरूपणेऽतिचतुरः सर्वं विदित्वाऽप्यसन्
सर्वत्रैव सदा तनोति विदुषां रीढां दुरात्मा त्वसौ ॥५२॥

सर्वशास्त्राभिज्ञो राजद्वारि समागतान् विदुषः शास्त्रार्थे पराजयते तिरस्करोति चेति यत् शास्त्राभिज्ञोऽपि दुरात्मा भवतीति प्रतिपादितम्। सर्वं स्फुटमेव ॥ ५२ ॥

आरेभे लौहधान्याशनमिह भवता दन्तहीनेन नूनं
प्रोद्यज्ज्वालास्फुलिङ्गद्रढिमतनुरुचाऽऽलिङ्गने साहसो वा।
क्रोधारक्तेक्षणस्य द्विपमदशमनप्राप्तशौर्यस्य दंष्ट्रा-
मुद्धर्तुं ते समीहा यदिह मम कृतौ वादवाञ्छां विधत्से ॥५३॥

अस्मत्कृतेषु नारायणबलिनिर्णयपाणिनीयसिद्धान्तकौमुदीकविताकल्पलतिकादिषु त्रिशतिग्रन्थेषु क्षोदक्षेमं विधित्सुं प्रतोदमुद्दिश्याह। सुस्पष्टा व्याख्येति न व्याख्यायते ॥ ५३ ॥

निम्ब ! त्वां कृणुते य एव शिरसा बाहूरुणा वा पदैः
यो वा साध्वमृतैः पयोभिरथवा सिञ्चन् सदा सेवते ।
छागैर्वा पशुभिश्च बालकगणैः क्रीडाप्रियै रक्षते
त्वं तेभ्यः कटुतां ददास्यविषमां ह्यद्वैतशिक्षा कुतः ॥५४॥

कश्चिद् दुर्जनः शुभकारिणे अशुभकारिणे च दौर्जन्यं करोति, तमुपलक्ष्य निम्बमाह—कृ हिंसायाम्, कृणुते हिनस्ति । छेदेन नाशयतीत्यर्थः । बाहूरुणा प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । अमृतैः जलैः, अथवा पयोभिर्दुग्धैः । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

स्वार्थाय क्षितिपं प्रतिग्रहगतस्यास्यं शितं जायते
वैचित्र्यं न च किञ्चिदत्र विदुषा स्वान्ते परिस्थाप्यताम् ।
अम्भोदो जलधेः परार्थमपि यन्नीरप्रतिग्राहकः
श्यामः सर्वशरीरतः स भवति क्षान्त्या परिज्ञायताम् ॥५५॥

कश्चित् कमपि प्रतिग्रहगतस्य स्वरूपं वर्णयति—स्वार्थाय स्वप्रयोजनाय क्षितिपं राजानं प्रतिग्रहार्थं गतस्य आस्यं मुखं शितं श्यामं जायते उत्पद्यते भवतीत्यर्थः । अत्र विदुषा स्वान्ते किञ्चिद् वैचित्र्यं न च नैव परिस्थाप्यताम् । तदेव उत्तरार्धेन समर्थयति । यत् परार्थमपि न तु स्वार्थं जलधेः नीरप्रतिग्राहकः अम्भोदः मेघः सर्वशरीरतः संपूर्णशरीरतः, एकदेशीयस्य मुखस्य का कथा ? श्यामः प्रभवति उत्पद्यते, क्षान्त्या आश्चर्यं विहाय परिज्ञायताम् । तस्मान्मा प्रतिग्रहं यासीः ॥ ५५ ॥

शुभ्रास्ताः ककुभो दशापि विधिना धूम्रापिताः कारिताः
वायुः कैरविणीं स्पृशन्नपि महाज्वालां क्षिपन् गच्छति ।
सेयं बालपिकी वसन्त ! भवतो नाम स्मरन् भासते
गुञ्जद्भृङ्गकुलावलोकनपरा त्वामन्तरा खिद्यते ॥५६॥

काचिद् विरहिणी पतिप्रतीक्षया खिद्यते, तामुपलक्ष्य वसन्तप्रतीक्षया खिद्यमानां पिकीमाह । अर्थः सूबोध इति न व्याख्यायते ॥ ५६ ॥

हस्तिन् ! दानग्रहणपटवो भूरिशस्ते द्विरेफाः
प्राप्ताः शोभाचरणगुरवो मस्तके तेऽनुयाताः ।
कार्षीरेषां श्रवणयुगलास्फालनाद् माऽवहेलां
शोभाहानिस्तव विकसिते ते व्रजेयुस्तडागे ॥५७॥

केचन विद्वांसः दानग्रहणधिया कमपि राजानं प्राप्ताः, तेषामनादरं कुर्वन्तं राजानमुपलक्ष्य हस्तिनमाह—भो हस्तिन् ! दानस्य मस्तकस्थमदस्य, अथ च प्रतिग्रहस्य ग्रहणे आकर्षणे स्वीकारे च पटवः ते प्रसिद्धाः भूरिशः द्विरेफाः, रेफद्वयसंबन्धाद् भ्रमराः दीर्घदर्शिनो दूरदर्शिनो विद्वांसश्च "दूरदर्शी दीर्घदर्शी श्रोत्रियश्छान्दसौ समौ" इत्यमरः । शोभाचरणगुरवः ते तव मस्तके अनुयाताः अनुगताः प्राप्ताः । एषां श्रवणयुगलास्फालनेन कर्णयुगलसञ्चालनेन हेलाम् अनादरं मा कार्षीः । अनादरेण विगतेषु तेषु शोभाहानिस्ते तवैव शोभाहानिः । ते विकसिते विकासमापन्ने तडागे व्रजेयुः, संभावनायां लिङ्, व्रजिष्यन्तीति भावः । मन्दाक्रान्तावृत्तम् । भ्रमरे दूरदर्शिनि च रेफद्वयमिति तौ द्विरेफौ ॥ ५७ ॥

अथ विभिन्नैश्छन्दोभिराह—

चन्दनो विषधरान् स्वमस्तके
दीपको निजशिखासु कज्जलम् ।
चन्द्रमा वहति लक्षणं तनौ
भूपतिः खलजनान् स्वसन्निधौ ॥५८॥

कश्चित् सुधीः राज्ञा सम्पादितं कार्यं राजसमीपस्थेन केनापि खलेन विनाशितम्, स स्वसखामाह, अथ सखा चन्द्रादीनां स्वभावसिद्धमिति वृत्तमाह । अर्थः स्पष्ट एव ॥ ५८ ॥

शशशिशुमवेक्ष्य भीता सीता याता हृदन्तरं पत्युः ।
राक्षसनायकनीता फालदतीष्वेव किं कुर्यात् ॥५९॥

सुसुखयुक्ताया विनष्टे सर्वस्वे अगतिकगतिमापन्नां स्थितिं प्राप्तानाम् एकोनविंशत्यधिकपञ्चषष्टितमे वर्षे यवनैराक्रुष्टवङ्गस्त्रीणां स्थितिमुपलक्ष्य सीता-वृत्तान्तमाह । अर्थः स्फुट एव ॥ ५९ ॥

जलधर ! जलनिधिनीतं
कृषकजनानां तु तर्पणाय पयः ।
कोऽयं तेऽस्त्यविवेको
भूधरशृङ्गेषु यन्मृषा क्षिपसि ॥६०॥

विद्वद्भ्यो दातुमानीतं धनमितरेभ्यो वैधेयकेभ्यो वितरन्तमुपलक्ष्य मेघमाह—जलधर ! कृषकजनानां तु तृप्त्यर्थं जलनिधेः समुद्राद् नीतं गृहीतं

पयः यद् मृषा व्यर्थं भूधरशृङ्गेषु क्षिपसि, अयं ते कः अविवेकः अस्ति ? विचाररहितमेवेदं ते मौर्ख्यम् ॥ ६० ॥

गुरुगर्वनिमीलिताक्षचीन !
त्वं हरिणीभिरिहैव मा विहार्षीः ।
करिकुम्भजमौक्तिकैः कृतैषा
हरिसीमेति विभाव्य मुञ्च शीघ्रम् ॥६१॥

कश्चित् स्वल्पबलो नृपो महाबलस्य अपरराजस्य राज्ये विजहार, तमवलोक्य सुसाधुर्बोधयति, तेन राज्ञा सीमा कृतेत्यवलोक्यात्र मा विहार्षी- रित्युपलक्ष्य हरिणमाह—करिकुम्भानां मौक्तिकैरेषा हरिसीमा कृता । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ६१ ॥

हिमनिहतकमलवृन्दं
कासारं मा भ्रमर ! परित्याक्षीः ।
विगते कतिपयदिवसे
पुनरपि स तथैव भाव्यस्ति ॥६२॥

कमपि केनापि कारणेन अनुपपन्नं राजानं त्यजन्तमवलोक्य तन्मित्रमाह—मित्र ! मा एनं परित्यज, किञ्चित् कालानन्तरं पुनरपि स तथैव भाव्यस्तीत्युपलक्ष्य भ्रमरमाह । सर्वं सुज्ञेयमिति न व्याख्यायते ॥ ६२ ॥

कथमिह हंस ! सरोवर-
मपास्य निजधाम पल्वलेऽयासीः ।
विधिलिखितभालवर्णान्
सफलीकुर्वन्ति दुर्जना मनुजाः ॥६३॥

कमपि राजगृहं विहाय जनदौर्जन्येन भूमिपालगृहमागतमवलोक्य तमुपलक्ष्य हंसमाह—हे हंस ! निजधाम सरोवरम्, मानसरोवरमित्यर्थः, अपास्य त्यक्त्वा इह पल्वले कथम् अयासीः ? स कथयति—दुर्जना मनुजाः विधिलिखितभालवर्णान् सफलीकुर्वन्ति । विधिलिखितमेतद् दुर्जनैः सम्पादितम् ॥ ६३ ॥

नीरक्षीरविवेकं
त्वमेव जानासि शिक्षयान्यं तत् ।
नो चेत्त्वं गमनेच्छां
विहाय तिष्ठेरिहैव समकालम् ॥६४॥

कमपि सद्विवेककारिणं जिगमिषन्तं न्यायाधीशमुपलक्ष्य हंसमाह—समकालं सर्वं कालं यावज्जीवमिहैव तिष्ठेः । अन्यत् सुगमम् ॥ ६४ ॥

कोकिल ! मा कुरु विपुले
विपिने कलरवमिहैककस्तिष्ठन् ।
करटाः परभृतशङ्का-
याता यास्यन्ति दौहृदं भावम् ॥६५॥

कमपि एकाकिनं निर्जने भ्रमन्तं गायन्तं चावलोक्याह, पाटच्चराणां प्रदेशोऽयमिति मौनः सन्नेव गच्छेरित्याश्रित्य कोकिलमाह । अर्थः स्पष्ट एव ॥ ६५ ॥

सख्यं सुरद्रुमैरपि
तृष्णा तथापि तव जागर्ति परा ।
गच्छसि पुनरवरस्मिन्
शान्तिस्तस्याः कथं यायात् ॥६६॥

एकं स्थानमपहाय अवरस्मिन् स्थाने गच्छन्तमाश्रित्य भ्रमरमाह—तस्याः तृष्णायाः । अन्यत् सुगमम् ॥ ६६ ॥

सकलान् विटपिन एष
भ्रमते मकरन्दमास्वदते ।
क्वचिदपि नैकोऽपि तरु-
र्लब्धः सहकार ! ते समत्वेन ॥६७॥

सकलान् विदुषः परीक्षमाणेन अनेन नैको विद्वान् त्वादृश उपलब्ध इत्याश्रित्य सहकारमाह । सर्वं स्पष्टमिति न व्याख्यायते । हे सहकार ! ते समत्वेन नैकोऽपि तरुर्लब्धः ॥ ६७ ॥

निःशङ्कं विपिनमहीषु यूथनाथ !
त्वं शेषे नयनयुगं निमील्य गाढम् ।
जानीषे नहि परिणामदुःखदाता
हर्यक्षः स्वपिति तवैष पार्श्वभागे ॥६८॥

कश्चिद् राजा महाराजस्य सीम्नि निःशङ्कं स्थितस्तमुपलक्ष्य करिण-माह—हे यूथनाथ ! त्वं निःशङ्कं गाढं नयनयुगं निमील्य विपिनमहीषु

वनमहीषु शेषे, त्वं नहि जनीषे परिणामदुःखदाता एष हर्यक्षः तव पार्श्वभागे स्वपिति; तस्मादिदं स्थानं विहाय दूरे गम्यताम्। प्रहर्षिणीवृत्तम्। अस्मत्कृतकाव्यकलायां तल्लक्षणम्—

"आद्यं चेत् त्रितयमथाष्टमं नवान्त्यं द्वे चान्त्ये गुरुविरतौ सुभाषिते च।
विश्रामो भवति महेशनेत्रदिग्भिर्विज्ञेया ननु गिरिजे प्रहर्षिणी सा" ॥६८॥

रे द्विरेफ! सहकार मञ्जरीं
किं विहाय पतितोऽसि किंशुके।
नो परागमथवा रसं न च
प्राप्स्यसि ध्रुवमनादृतिं क्षितौ ॥६९॥

कश्चित् सुरूपां नवयौवनां स्वस्त्रियं विहाय अपरामरजस्काममनोहारिणीं च जिगमिषन्तमाश्रित्य भ्रमरमाह। अर्थः स्फुट एव। रथोद्धतावृत्तम्। "रान्नराविह रथोद्धता लगौ" इति वृत्तरत्नाकरे ॥ ६९ ॥

पदैक्ये सम्प्राप्ते वहति परकं स्वार्थविमुखः
समस्ते संसारे वितरति न भेदं क्वचिदसौ।
जनानां कार्यार्थी विपुलविपुलोपायनिरतः
कृतिं सम्पाद्यैवाश्रयणसफलो जीवति जनः ॥७०॥

एकस्मिन् स्थाने प्राप्ते, न विवादं नापि प्रपञ्चं कुर्यादिति शिक्षार्थमेवेदं पद्यम्। शिखरिणीवृत्तम्, "यदा पूर्वो ह्रस्वः कमलनयने षष्ठकपरास्ततो वर्णा बाणाः कविकुलमताः सन्ति लघवः। त्रयोऽन्ये चोपान्त्याः सकलसुबुधैरप्यभिहिता रसैरुद्रैर्यस्यां भवति विरतिः सा शिखरिणी" इति अस्मत्कृतकाव्यकलायाम् ॥ ७० ॥

प्रफुल्लसरसीतटे सकलमेव नीतं वयो

मरालशिखिझिल्लिकामधुरगानतश्चामुना ।

स चाल्पसरसि स्थितः प्रचुरदर्दुराणां ध्वने-

र्निशासु बहुजागरः स्थविरतां कथं यापयेत् ॥७१॥

केनचित् सर्वा अवस्था ससुखं नीता पत्तने, वार्धक्ये ग्राम्यैर्दुःखजनकैः कथं नेष्यतीत्याश्रित्य हंसमाह—मरालशिखिझिल्लिकानां मधुरगानतः अमुना प्रफुल्लसरसीतटे सकलं समस्तं वयः नीतम् । स चायम् अल्पसरसि पल्वले स्थितः प्रचुराणां बहूनाम् ("प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु" इत्यमरः) दर्दुराणां ध्वनेः निशासु बहुजागरः, वार्द्धक्ये स्वभावतः जागरो भवति । ध्वनेः उन्निद्रितः सन् स्थविरतां वार्द्धक्य कथं यापयेत् ? पृथ्वीनामकं छन्दः । तल्लक्षणं मत्कृतकाव्यकलायाम्, यथा—

द्वितीयमिह षष्ठकं यदि तथाष्टमं द्वादशं

चतुर्दशमथो नयेद् गुरु कवीन्द्रवृन्दाधिपः ।

सपञ्चदशमन्तिमं तदनु यत्र पद्ये यति-

र्वसुग्रहगणैः शुभा भवति सा हि पृथ्वी मता ॥ ७१ ॥

सुधन्विशून्येऽतिमहान् धनुर्धर-

स्तद्युक्तदेशेऽसिपटुं ब्रवीत्यसौ ।

द्वयेन हीने तु निजं द्विकप्रभुं

युक्ते द्वये चोभयथा न चास्म्यहम् ॥७२॥

इदमवसरवादिनो धूर्तस्य प्रकारः ॥ ७२ ॥

द्विपेन्द्रसूनो ! भ्रमरालिमागता-
मनादृतां मा कुरु कान्तिवर्धिकाम् ।
पुरन्दरस्यापि गजः समागतां
सदादरेणैव दधाति मस्तके ॥७३॥

कश्चिद् राजकुमारः समागतां विद्वन्मण्डलीमनादरदृष्ट्या पश्यति, तं राजमन्त्री बोधयति, एषा सम्राजाऽपि समाद्रियते, तदेवोपलक्ष्य द्विपेन्द्रसूनु-माह—इन्द्रस्यापि गजः सदादरेण = सता योग्येन आदरेण एव मस्तके शिरसि दधातीति सर्वथा त्वया मान्यः ॥ ७३ ॥

द्वारं पयोधेरुपनीय पुष्करं
सुस्वादु पेयं मधुरं च कुर्वतः ।
युक्तं तवैतत्परमस्य पर्वते
वृथा परित्यागविधिः क्व शिक्षितः ॥७४॥

कश्चिद् राजा विद्वद्भ्यो धनं दातुं मन्त्रिणे धनमादात्, स चान्नवस्त्राणि क्रीत्वा मूर्खेभ्यः प्रायच्छत्, तदेवाश्रित्य जलधरं कथयति—पुष्करम्=जलम् । तव एतद् युक्तम्, परं किन्तु अस्य जलस्य वृथा पर्वते परित्यागविधिः क्व शिक्षितः । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ७४ ॥

चलन्ति तारा वसुधाऽपि नाचला
निशाकरो वापि दिवाकरश्चलौ ।
लये तु सर्वं चलति श्रुतौ गतं
महात्मनां निश्चलमेव मानसम् ॥७५॥

सर्वं पदार्थजातं साधारणमशकमारभ्य ग्रहतारासूर्यपर्यन्तं सर्वमेव चलमस्ति, किन्तु महात्मनां मानसं निश्चलमेव । सर्वं चञ्चलमेवेत्युक्त्या

स्वचाञ्चल्यं समर्थयन्तमुपलक्ष्य अन्यं प्रत्याह—महात्मनां मानसं निश्चलम्, तद्वत्पुरुषेण भाव्यमित्याशयः ।। ७५ ।।

माधुर्यं जलधे ! सुधासमुदितं नीरस्य ते निर्गतं
सौन्दर्यं कमलाभवं विगलितं देवासुरैराहृतम् ।
निर्मथ्यैव गृहं तवैतदभितो देवैः सुधा निर्जिता
लक्ष्मीश्चापि मुरारिणा किमु चरे रत्नाकरो नामतः ।।७६।।

कस्यचिद् राज्ञः ऐश्वर्यं प्रभुत्वं च कांग्रेसेन आहृतम्, केवलं नामतः एव स राजा इति तमुपलक्ष्य समुद्रमाह—हे जलधे ! सुधासमुदितम्, सुधया समुत्पन्नम् । सुधासंसर्गात् स्वतः एव समुत्पन्नं ते तव नीरस्य जलस्य माधुर्यं निर्गतम् । अपेयम् अतिक्षारं च जलमवशिष्यते । अथ कमलाभवं लक्ष्मीजनितं सौन्दर्यं विगलितं देवासुरैराहृतम् । कथं ते निर्गते इति उत्तरार्धेन दर्शयति तत्प्रकारम्—तव एतद् गृहम् अभितः सर्वतो निर्मथ्यैव मथित्वैव, न तु चोरयित्वा, नापि संप्रार्थ्य देवैः सुधा निर्जिता, त्वया तवानुयायिभिर्विषप्रभृतिभिश्च विरोधे विहितेऽपि न किञ्चिज्जातम्, लक्ष्मीश्चापि मुरारिणा विष्णुना निर्जिता, तेन पराजितः, तदपेक्षया असमर्थश्च किमु चरेः ? नामतो रत्नाकरः । यथा सुसमृद्धस्य राज्ञः सर्वस्वापहरणे नामतो राजा आहूयते इति राजानमुपलक्ष्य समुद्रं प्रत्युच्यते इत्यन्योक्तिः ।। ७६ ।।

सहस्रभानोः सकलान् करानसौ
लक्षैर्दलैः साधु रुणद्धि निर्भयम् ।
धाराधरस्यापि जलाद् वटः करै-
रालिङ्ग्य वा रक्षति तं प्रपन्नकम् ।।७७।।

कश्चिद् वीरो निर्भयः सन् प्रबलतरसेनासमन्वितात् अपरस्मात् शरवर्षकात् करैरालिङ्ग्य प्रपन्नं तं रक्षतीत्युपलक्ष्य वटं वर्णयति—असौ

वटः सहस्रभानोः सहस्रांशोः सकलान् करान् रश्मीन् लक्षैर्लक्षसंख्याकैः अपरिमितैर्दलैः निर्भयं भयरहितं यथा स्यात् तथा मामयं रविः शोषयिष्यतीति भयरहितः साधु रुणद्धि। धाराधरस्यापि जलात् करैः शाखाभिः आलिङ्ग्य वा मूलभागे आलिङ्गनं विधाय प्रपन्नकं शरणागतं तं रक्षति। सर्वथा शरणागतस्य रक्षा कर्तव्येति वटक्रिययैतदुच्यते—इत्यप्युक्तिरन्योक्तिरेव ॥ ७७ ॥

रे कौलेयक ! किं समागतबुधं रीढादृशा भाषसे
द्वित्रैस्त्वं कवलैः सुसाधु वदसि स्वं पुच्छमान्दोलयन् ।
भ्रष्टाचारमिमं विलोक्य भवतः स्थानात् ततः पातितः
क्षुत्क्षामं च पुनर्विलोक्य कृपया क्षुद्रे पदे स्थापितः ॥७८॥

कश्चित् कर्मचारी समागतं सन्तमसन्तं वा अनादरदृष्ट्या पश्यन् भाषते। अथ द्वित्रैरेव रूप्यकैः सुसाधु वदतीति उच्चस्थानाद् भ्रष्टाचारापराधान्निष्कासितः, प्रभुणा क्षुत्क्षामं विलोक्य निर्वहणयोग्ये पदे पुनः स्थापितः इत्युपलक्ष्य कुक्कुरमाह। अर्थः स्पष्ट एवेति न व्याख्यायते ॥ ७८ ॥

रे भृङ्गार ! शिरोधिचालनपटुः कोणे गृहस्यैकक-
स्तिष्ठंस्त्वं समुपागतं गुरुजनं रीढावचो भाषसे ।
गर्वोऽयं विनिपातिते त्वयि कथं वैदुष्यहीनेऽप्यहो
ज्ञातं भाग्यवशेन योगजनितः शाठ्यादसौ जायते ॥७९॥

कश्चिद् विद्वान् गृहैकदेशे एकाकिनं स्थितं कमपि कर्मचारिणं गतः, स तु मूर्खः आगतं गुरुजनं गर्वाद् अनादरवचनं भाषते, स तु विद्वान् विमृष्य

निश्चितवान्, उच्चस्थानान्निपातेऽपि अयं गर्वः योगजनितः शाठ्याद् जायते इत्युपलक्ष्य भृङ्गारमाह—भृङ्गारी कीटविशेषः। "भृङ्गारी झीरुका चीरी झिल्लिका च समा इमाः" इत्यमरः। पुंसि भृङ्गार इति। शिरोधेश्चालने पटुः "शिरोधिः कन्धरेत्यपि" इत्यमरः। गृहस्य कोणे एकैकः एकाकी "एकादाकिनिच्चासहाये" इति चात् कन्। तिष्ठन् समुपागतं श्रेष्ठजनं रीढावचः अवज्ञापूर्वकं वचः भाषते। "रीढावमाननावज्ञावहेलनमसूर्क्षणम्" इति चामरः। अहो वैदुष्यहीने उच्चस्थानात् उच्चपदात् पातिते त्वयि गर्वः कथम्? न खलु स्वोच्चस्थितिं जानन् ततो न्यूनस्थितिं गतो गर्वं न करोतीति सर्वं प्रकृतिसिद्धम्, परमयं कथं सर्वस्वभावविरुद्धं गर्वं करोतीति विचारयन् आह—ज्ञातं भाग्यवशेन सदहृष्टोदयेन योगजनितः प्रत्यहं पदचारेण गङ्गास्नानदेवदर्शनप्रभावात् समुत्पन्नः शाठ्याद् दुःस्वभावादसौ गर्वः जायते इति ॥ ७९ ॥

द्वेषं मा कुरु ते पुरा ह्युपकृतिं सत्कार्यतोऽयं व्यधाद्
दुग्धं शर्करयाऽन्वितं सदा बहुतरं तेऽदादसौ निर्जलम्।
त्वं चास्योपकृतेरिमां प्रतिकृतिं कर्तुं सुसज्जो भवन्
शान्तं चानपराधिनं गुरुजनं क्ष्वेडैर्निनीषस्यहो ॥८०॥

कश्चित् पुरा केनाप्युपकृतः प्रत्युपकारं चिकीर्षन् तदनिष्टं विधित्सतीत्युपलक्ष्य सर्पमाह—हे सर्पराज! त्वं द्वेषम्, अनेन सह वैरं मा कुरु; पुरा पूर्वम् अयं सत्कार्यतः ते तव उपकृतिं व्यधात् अकार्षीत्। असौ निर्जलं शुद्धं शर्करयान्वितं दुग्धं ते तुभ्यं सदा बहुतरमदात्, त्वं च अस्य उपकारिणः उपकृतेः प्रत्युपकारं कर्तुं सुसज्जो भवन् गुरुजनं प्रत्युकारं क्ष्वेडैः निनीषसीत्याश्चर्यम् ॥ ८० ॥

खीरे त्वं मधुरा परं कटुमुखी सर्वस्य दुःखप्रदा
तत् त्वां कर्त्स्यति मस्तकाच्च जनता क्षारं शिरो नेष्यते ।
टङ्काश्चापि विधाय तत्र शिरसो नृत्यं तथा प्राप्स्यति
सर्वस्यैव विधीयते कटुमुखस्यैवं महादुर्दशा ॥८१॥

कश्चिद् मित्रदुःखदां कटुमुखीं तत्प्रियामुद्दिश्य तामेव श्रावयन् खीरा-वृत्तं वर्णयति—खीरे इति सम्बोधनम् । हे खीरे ! त्वं मधुरा माधुर्य-गुणविशिष्टा, परं कटुमुखी; माधुर्यगुणयुक्तत्वात् सर्वप्रियत्वेऽपि ते मुखाग्रभागे कटुत्वाद् दुःखप्रदत्वं तवास्तीति । स्त्रीपक्षे कठोरभाषिणी अप्रियभाषिणी चेत्यर्थः । तत् तस्मात् कटुमुखत्वकारणाद् जनता सर्वोऽपि जनः मस्तकाद् मस्तकस्थानात् त्वां कर्त्स्यति, भवत्याः शिरच्छेदं करिष्यति । नैतावता कटुमुखीत्वस्य प्रतिशोधं मंस्यते, किन्तु अन्यदपि विधास्यति । तदाह—क्षारं लवणं शिरः नेष्यते, अकथितं चेति द्वितीया । पुनः शिरसि करिष्यतीत्यर्थः । अन्यदपि कृत्तभागे महादुःखदायकान् टङ्कान् विधाय तत्रैव कृत्तभागे शिरसः कृत्तमस्तकस्येत्यर्थः नृत्यं नेष्यते, पुनः पुनस्तत्रैव घूर्णयिष्यतीत्यर्थः । न खलु खीराया एव एवं दुर्दशा भवति, किन्तु सर्वस्यैव कटुमुखस्यैवं दुर्दशा भवति । इहैव भवेद् जन्मान्तरे वेति भावः ॥ ८१ ॥

मौसम्मी मधुरा शुभा वसुचयं धत्ते निगूह्यान्तरे
कृत्वाऽष्टौ च निकेतनानि परितश्चोर्ध्वं त्वचां वेष्टते ।
छिन्ना सा परिपीडिताऽतिबहुलं दत्ते स्वकं सर्वतो
लोके पीडनमापितो निजधनं दुःखात् समो मुञ्चते ॥८२॥

कश्चित् कृपणसमीपात् किञ्चिदप्यप्राप्तेरतिदुःखितं मित्रं प्रतिबोधयन् कृपणस्थितिमुपलक्ष्य मौसम्मीं वर्णयति—हे सखे ! मौसम्मी मधुरा, अथ च

शुभा कल्याणकारिणी भवति, सर्वेष्वपि रोगेषु सर्वास्वपि अवस्थासु तद्ग्रहणस्य कल्याणकारित्वात् । एवं गुणविशिष्टापि वसुचयं शुभकारिजलसमूहं रसमित्यर्थः, अन्यत्र धनम्, "वसु तोयधने मणौ" इति चामरः । निगूह्य अन्तरे धत्ते । पुनः मा कश्चिद् गृह्णातु इति धिया अष्टौ विभागभूतानि निकेतनानि तद्रक्षणार्थं गृहाणि कृत्वा ऊर्ध्वं परितः सर्वतो भावेन त्वचां वेष्टते । भागुरिमते "आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा" इति त्वच्शब्दाद् आप् । अथ छिन्ना पुनः परिपीडिता सा अतिबहुलं सर्वतः सर्वभागे विद्यमानं स्वकं धनं रसमित्यर्थः दत्ते, पीडकायेत्यर्थः । लोके समः सर्वः पीडिनं प्रापितः दुःखाद् निजधनं मुञ्चते त्यजति । कृपणपक्षेऽपि सर्वं तथैव । साधारणतया कृपणो न किञ्चिदपि ददातीति दुःखं जहीति भावः । स्फुटा अन्योक्तिरिति ॥ ८२ ॥

आकाशाङ्गणमागते त्वयि रवे ? पद्माकरो भासते
लीयन्ते च गुहासु कौशिकगणा गाढान्धकारेऽथवा ।
चक्रस्तुष्यति व्योमगश्च सकलस्ताराचयो लीयते
ध्वान्तं नश्यति नायकः शशधरश्चित्रीयते पुष्करे ॥८३॥

रवौ रविस्वरूपं रविसिंहनामकं रविदत्तनामकं वा भीमः भीमियः भीमिलः इति वत् उत्तरपदलोपे, यद्वा नामैकदेशे नामग्रहणमिति सिद्धान्ताद् रविसिंहनामकं राजानमुपलक्ष्य सूर्यं वर्णयति—हे रवे ! त्वयि आकाशाङ्गणमागते सम्यग् उदिते सति पद्माकरः तडागः ("पद्माकरस्तडागोऽस्त्री" इत्यमरः) भासते सर्वेषां पद्मानामुदितत्वात् तडागः शोभते । सूर्ये समुदिते सति पद्मानि विकसितानि भवन्ति, तेन तडागो भासते इति भावः । पद्मायाः लक्ष्म्याः आकारः निधिः द्रव्यादिस्थानम्, हीरकादिखनिर्वा भासते, अथ च कौशिकगणाः कौशिकानां गणाः समुदायाः "समुदायः समुदयः समवायश्चयो गणः" इत्यमरः । विभिन्नजातिकाः सर्वेऽपि कौशिकाः गुहासु लीयन्ते, अथवा

गाढान्धकारे ध्वान्ते तमसि लीयन्ते। लयं तदाकारतां प्राप्यैव तिष्ठन्तीत्यर्थः। दिवान्धत्वाद् मा काकादिशत्रुपक्षी यः कश्चिदपि अस्मान् अवगच्छत्विति भावः। अन्यत्र शत्रुगणः इति भावः। चक्रः चक्रवाकः—"कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः" इत्यमरः। तुष्यति—संतुष्टो भवति। स्वकीयकान्ताया उपलब्धेः। शत्रुणा अधिकृतत्वात् तदुपलब्धेरित्युभयत्र समानम्। सकलस्ताराचयः नक्षत्रसमुदायः, नवग्रहाः, मेषादिराशयः, अश्विन्यादिनक्षत्रादयः, सप्तर्षिगणः, साधारणनक्षत्राणि चेति सर्वाणि पुष्करे आकाशे एव तारागणो लीयते, आकाशे एव तेषां विलयात्। नैव तत्स्थाने किञ्चिदपि दृश्यते। शत्रुपक्षेऽपि तथैव लयः। ध्वान्तं नश्यति, भवत्करपर्यन्तं तस्यानुपलम्भादिति भावः। शत्रुविहिता या दुर्व्यवस्था साऽपि प्रलीयते। अथ च यः शशधरः प्रधाननायकश्चन्द्रः सः अम्बरे आकाशे चित्रीयते, निष्प्रभः—पटादौ चित्रलिखित इव प्रतीयते। राजपक्षेऽपि कौशिकादीनां तत्तद्ग्रहादीनां च कायरपुरुषेषु आरोपात्। वीरपुरुषवद् राज्ञि क्रमेण अर्थोऽवगन्तव्यः। प्रधाननायकस्य चन्द्रस्य निष्प्रभत्वमिति सूर्यवर्णनाद् राज्ञि च तदर्थावगमात् श्लेषमूला अन्योक्तिः॥ ८३॥

भो न्यग्रोध! भवान् पदा क्षितितले गत्वैव संतिष्ठते
नो वायुर्न भुवश्च कम्पनमपि त्वत्पातने ते क्षमे।
त्वं चौष्ण्यादपि शैत्यतो जलभृतः सर्वात्मना रक्षसि
क्षुच्छान्त्यै सफलः सुगन्धकुसुमः स्यास्ते समः को भवेत्॥८४॥

कश्चित् सर्वथा सहृदयो दयालुः शीतोष्णनिवारकः स्थितिसाधकः दारिद्र्यान्न क्षुन्निवारकः सुसम्पन्नः, न तं निर्बलं कर्तुं कोऽपि क्षमः, परन्तु स न क्षुन्निवृत्तिसाधकः, किन्तु तदतिरिक्तसर्वविधशीतोष्ण्यादिदुःखनिवर्तक इति तमुपलक्ष्य वटमाह—भो न्यग्रोध! भवान् पदा पृथ्वीतलपर्यन्तं गत्वैव संतिष्ठते। गाढतरभागपर्यन्तं पदावस्थित इत्यर्थः। वायुः भूकम्पनं च त्वत्पातने नैव क्षमः। क्षमः क्षमं च, द्वयोरेकशेषे "पुन्नपुंसकयोः परत्वान्नपुंसकम्"। त्वं च औष्ण्यात्, शिशिरे

रात्रौ शैत्यतः, वर्षासु मेघात्, सर्वात्मना रक्षसि, परन्तु यदि क्षुधाशान्तिकरैः फलैः सुगन्धकुसुमैश्च युक्तः स्याः, तर्हि तव समः कः स्यात्? न कोऽपीत्यर्थः। तुल्यार्थत्वात् समशब्दयोगे "तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इति षष्ठी। वटे पुष्पाणि न भवन्तीति न भ्रमितव्यम्, किन्तु तानि फलरूपेणैव वृक्षाङ्कुरवज्जायन्ते। वटस्य छाया ग्रीष्मर्तौ शैत्यभाग् भवति, परन्तु शिशिरे उष्णैव भवति। उक्तं च—

कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री मृत्तिकालयः।
शीतकाले भवेदूष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥ इति॥ ८४॥

रे सारङ्ग! मृषाऽतिगर्जनपटुं निःसारमाशाप्रदं
दृष्ट्वाम्बुभृतो विभाव्य सकलान् मा दीनभावं चरेः।
कालेऽसावतिघोषणां वितनुते पूर्तौ न चैवेहते
तन्मा तुष्टिमुपेहि घोषणपरान् ज्ञात्वा हृदा मुञ्च तान्॥८५॥

प्रजाया औत्सुक्यजनकं मनोहरव्याख्यानदातारं निःसारामारम्भिकयोजनां दर्शयन्तं ससारं परिभाव्य दीनभावं मा चरेः। काले=घोरतरदुष्काले (यत्रैक-रूप्यकेण सेटकमात्रं गोधूमम्, पादोनं द्विदलम् (१२ छटाँक मात्र) अस्ति, तत्र अतिघोषणां विस्तारयति, तत्पूर्तौ नैव चेष्टते। तद्घोषणामात्रपरान् ज्ञात्वा हृदयेन तान् मुञ्चेत्युपलक्ष्य चातकमाह—रे सारङ्ग! चातक! "दार्वा-घाटोऽथ सारङ्गस्तोककश्चातकः समाः" इत्यमरः। मृषा मिथ्या अतिगर्जन-पटुम् अतिगर्जनमात्रे चातुर्यप्रदर्शकम्, न तु जलबिन्दोरपि दायकम्। निःसारं साररहितम्, शारदमित्यर्थः। दृष्ट्वैव दर्शनमात्रतः सकलान् सर्वान् अम्बुभृतः जलपूरकान् विभाव्य दीनभावं दैन्यं मा चरेः, नैते जलदातार इति भावः। काले दुष्काले वर्षास्वप्यवर्षणाद् अतिघोषणां तनुते, तत्पूर्तौ नैव चेष्टां करोति। तस्मात् तद्घोषणामात्रतः तुष्टिं मा उपेहि। उक्तं हि केनापि—

गर्जति शरदि न वर्षति वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः। नीचो वदति न कुरुते

न वदति सुजनः करोत्येव" इति । घोषणपरान् ज्ञात्वा हृदा तान् मुञ्च । मा तेषु विश्वासं कार्षीरिति । स्वयं स्वोदरपूर्तौ परिश्रमं कुर्या इति भावः ॥८५॥

रे कस्तूरक ! मा वृथा कुरु मदं त्वां सर्वतोऽन्वेषयन्
व्याधोऽत्रैव निशि प्रजागरवशात् सुप्तो भृशं वर्तते ।
यस्ते मादकरः स एव भवतः प्राणापहो जायते
तन्मादं परिहाय शान्तमनसा श्राम्येरधो भूभृताम् ॥८६॥

धनमदं कुर्वन्तं कमपि वणिजं कश्चिदाह यद् धनं मदकरमस्ति तदेव पाटच्चरैः प्राणविनाशकं संपद्यते । तन्मदं परिहाय भूभृतां राज्ञामाश्रयतया तिष्ठेः । यद्वा कांग्रेसराज्ये राज्ञैव कुत एतद् धनमायातमिति पृष्टे अस्यानुत्तरे प्राणापहम् इत्युपलक्ष्य कस्तूरकमाह । अर्थः सुबोध एवेति न व्याख्यायते ॥ ८६ ॥

आयातः कुरुषे भरं मनसिजं स्वेच्छानुगा योषितो
विश्वं त्वं विमलं वसन्त ! सुमितं रात्रिं च स्वक्षोज्ज्वलाम् ।
एतत्साधु परं कुतो विटपिनां वल्लीवधूनामपि
क्षीणं वस्त्रमपास्य हाऽतितरुणीं नग्नां विधत्से कथम् ॥८७॥

कश्चिद् नवीनो राजा आगतः सन् सर्वं संसारं प्रफुल्लितं कुरुते । अत्यधिककरेण चरामचरां च सम्पत्तिं हृत्वा स्त्रीणां भूषणान्यपहृत्य स्त्रीपुंसयोर्वस्त्राण्यप्युदतारयदित्युपलक्ष्य वसन्तमाह—हे वसन्त ! ऋतुराज ! त्वम् आयातः सन् भरम् अतिशयितम् "नित्यानवरताजस्रमप्यथातिशयो भरः" इत्यमरः । मनसिजं कुरुषे, पुरुषाणां हृदि अतिशयितां कामवासनामुत्पादयसीति भावः, योषितः स्वेच्छानुगाः । विश्वं विमलं धूलिकर्दमादिरहितं सुमितं

प्रफुल्लितम् "स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्" इत्यमरः। सुमानि संजातान्यस्मिन् तं विश्वं कुसुमितं कुरुषे इति। रात्रिं च ऋक्षैः नक्षत्रैः कुसुमितां कुरुषे "नक्षत्रमृक्षंभं तारा" इत्यमरः। एतत् सर्वं साधु नवीनराजस्यागते भवतीति युक्तम्, परं विटपिनां पुरुषाणां वल्लीवधूनां सर्वतः वस्त्रं वस्त्रस्वरूपाणि पत्राणि अपास्य दूरीकृत्य जातित्वादेकवचनम्, हा खेदे ! कथम् अतितरुणीं वल्लीं लतां नग्नां विधत्से ? तस्या अपि वस्त्राणि उत्तार्य नग्नां करोषीत्यतितरामनुचितम्। "वसन्ते सर्ववृक्षाणां जायते पत्रपातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालयः" इति। नवीनराज्ये एतदधिकः करो जातः, येन स्त्रियः वस्त्राणि उत्तार्य ददते, स्वयं नग्नास्तिष्ठन्ति इति भावः ॥ ८७ ॥

अन्ये ते जलदा भवन्ति भुवने ये तर्पयन्त्यम्बुभिः
लोकानां भवतस्तृषामपनयन्त्यम्भःप्रदाः स्वान्ततः।
तन्नीरेण विवर्जितोदरममुं काशप्रभं शारदं
गर्जन्तं कृपणं विमुञ्च यदसौ बिन्दून् न ते त्यक्ष्यति ॥८८॥

कश्चिदागतं मन्त्रिणमवलोक्य करत्यागादिनाऽतिप्रसन्नं मित्रमुपलक्ष्य चातकमाह। सर्वं सुगमम्। नवरम्, स्वान्ततः अन्तःकरणात्, अथवा स्वस्य अन्तःनाशात्, एवंविधाने मन्त्रित्वं नंक्ष्यति, नश्यतु नाम, परन्तु जनताया दुःखनिवृत्त्यर्थमुचितमेव कुर्वन्ति। अन्यपक्षे अम्भःप्रदाने रिक्तत्वात् स्वत एव जलधरत्वमपह्नियते। शारदम्—शरदि जातः तम्, शरत्कालिको मेघो जलरहितः काशप्रभः शुक्लस्वरूपो भवति, श्वेताम्बरत्वाच्च, तथा नासौ ते तुभ्यं बिन्दून् बिन्दुमपि त्यक्ष्यति दास्यतीत्यर्थः। बिन्दुं जातित्वाद् द्वित्रानेव बिन्दून् अभिलषति, न तु जलधारामिति नात्र न्यूनपदत्वम् ॥ ८८ ॥

विश्वं तर्पयते भृशं क्षितिरुहान् वल्लीमसौ कर्षकान्
बीजं कन्दमथापि पूरुषगणं संतोषयन् वारिणा।
यद् द्वित्रा अपि बिन्दवो न पतिताश्चञ्चूपुटे तेऽम्बुन-
स्तन्मन्ये दुरितं तवैव फलितं यत्त्वं तृषा व्याकुलः ॥८९॥

कश्चित् कस्मिंश्चिदतिदातरि राज्ञि समुपस्थिते सर्वानतिदानेन तर्पयत्यपि क्षुत्तृड्व्याकुलो ब्राह्मणोऽतिदीनो रिक्तस्तमाश्रित्य चातकमाह—असौ मेघः वारिणा पूर्वोक्तान् संतोषयन् विश्वं तर्पयते, यद् द्वित्रा अपि द्वौ वा त्रयो वा संख्यावाचकस्य संख्यावाचकेन सह "संख्यया व्यया०" समासः। "बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्" इति डच्। 'टेः' इति टिलोपः। ते तव चञ्चूपुटे अम्बुनः जलस्य बिन्दवो न निपतिताः, तदहं मन्ये, तवैव दुरितं पूर्वजन्मार्जितं दुष्कृतं फलितम्? यदेवं दातरि त्वं तृषा व्याकुलः। उक्तं हि केनापि—

"वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः॥" इति भावः॥८९॥

पद्मिन्या रमते न च क्षणमसौ यूथीं न वा प्रेक्षते
इन्द्रस्यापि महीरुहे नहि गतो जातिं न वा भाषते।
वासन्तीं प्रियसङ्गमोत्सुकतया फुल्लां न चैवेहते
तन्मन्ये क्वचिदप्यनेन तरुणी श्लिष्टाऽऽम्रजा मञ्जरी ॥९०॥

कस्याश्चित् काचित् सखी तत्पत्युः कृत्यमुपलक्ष्य भ्रमरं वर्णयति—असौ भ्रमरः त्वत्पतिश्च पद्मिन्या कमलिन्या कामशास्त्रोक्तसर्वश्रेष्ठया स्त्रिया च सह क्षणमपि (अपिरुत्तरेणान्वेति) न रमते, क्षणमात्रमपि तत्र नैव विरमतीत्यर्थः। यूथीं तन्नाम्नीं लतां "खघथधभां हः" इति थकारस्य हकारे

कृते, "आदेर्यो जः" इति यकारस्य जकारे 'जूही' इति मत्कृते पालीप्राकृत-व्याकरणे। न वा प्रेक्षते मार्गस्थितामपि तां नावलोकयतीत्यर्थः। इन्द्रस्यापि महीरुहे कल्पवृक्षे (हरश्रृङ्गार इति लोकभाषायाम्) तत्पुष्पस्य मनोहरगन्धत्वात् तत्रापि न गतः। अथ च कल्पवृक्षसविधे इच्छानुप्रापकसमीपे न गतः। जातिं मालतीम् "सुमना मालती जातिः" इत्यमरः, नैव भाषते, तया सह वार्तामपि नैवाकार्षीत्। अथ च जातिम् "जातिः सामान्यजन्मनो" इत्यमरः। स्वकीयज्ञातिभिः सह वाचाऽपि नैवादृणोति। प्रियसङ्गमोत्सुकतया फुल्लां वासन्तीं नैव ईहते, न तदुन्मुखं चेष्टते। अथ च वासं करोतीति वासन्ती। संसर्गार्थं निवासिनां सुरतिकां नैव ईहते। तत् तस्माद् अहं मन्ये यदनेन क्वचित् तरुणी आम्रजा मञ्जरी घ्राता। तस्याः सर्वोत्कृष्ट-त्वात्। अथ च सर्वोत्कृष्टा कापि श्लिष्टा, तत्रैवास्य मनोवृत्तिः स्थिरेति भावः॥ ९० ॥

यूना येन मतङ्गजस्य मलिने दानस्थले कान्तया
पीतः सार्धमरं कटेऽतिवहता चेतोऽनुकूलं मदः।
अम्भोजैः सहकारमञ्जरिरसास्वादेन नीतं वयः
सोऽयं दैववशान्मरौ मधुकरो बध्नाति पीलौ मनः॥९१॥

सस्त्रीकेण तरुणेन केनचिद् विदुषा कस्यचिन्महाराजस्य गेहे सर्वविधं सुखमुपभुक्तम्, परन्तु दुष्टानां दौष्ट्यात् तत्स्थानमपहाय साधारणभूधरमाश्रयन्त-मुपलक्ष्य भ्रमरमाह। सर्वं सुगमम्। नवरम्, मलिने मदयुक्तत्वात् तत्स्थानं मलिनं भवतीति मलिने मदयुक्ते दानस्थले कटस्थले "गण्डः कटो मदो दानम्" इत्यमरः। कटे अतिवहता मदस्याधिक्यात् प्रवाहः तेन सार्धं सोऽपि वहतीति अत्यन्तं वहता येन चेतोऽनुकूलम्—यावदिच्छापूर्ति अरं शीघ्रं प्रवाहभयात् पीतः। सोऽयमित्यादि स्पष्टम्॥ ९१ ॥

भोः पान्थाः किमु यात भूरुहमिमं न्यग्रोधमुत्कण्ठिता
आशापूरक एष शीतलतलो दीर्घैर्दलैः संगतः।
संतापस्य निवारकः परमसौ दर्वीकरैः पूरितो
व्यालाः प्राणहरा वसन्ति बहवस्तस्यैव दीर्घोदरे ॥९२॥

कश्चिद् दिक्षु विस्तीर्णयशस्कं दुष्टव्याप्तं राजानं गच्छतो विदुष उपलक्ष्य पान्थमाह—भो पान्थाः उत्कण्ठिता यूयं भूरुहमिमं न्यग्रोधं वटं किमु यात? नायमक्षयवटः, किन्तु भूरुह एवः वटः। एष आशापूरकः शीतलतलः दीर्घैः दलैः पत्रैः संगतः, अत एव संतापस्य उष्णताया निवारकः; अन्यत्र राजा दानशीलः, परमसौ दर्वीकरैः पूरितः। किञ्च, तस्यैव दीर्घोदरे विलस्वरूपे तद्वृक्षमध्ये बहवो दीर्घफटाः, विशालफणाः, एतेन दशनक्षण एव मारकविषधरत्वं तेषां सूच्यते। व्यालाः सर्पाः वसन्ति। तन्मा तत्र गमः। निश्चितमेव बहुसर्पयुक्तत्वात् प्राणघातकदुष्टपुरुषाणां च सत्त्वात् प्राणहानिरिति भावः ॥ ९२ ॥

क्षुद्रा भीरव एव मन्त्रिकथितं सामादिकं वृण्वते
शूराः स्वीयबले दृढा ह्यविरतं शौर्यं रिपौ तन्वते।
सिंहः केन विबोधितः करिशिरस्युत्प्लुत्य संतिष्ठते
मार्तण्डश्च महीतलस्य तिमिरं नाशं नयत्यंशुभिः ॥९३॥

शूरा विद्वांसश्च मन्त्रिसाहाय्यनिरपेक्षा एव दिग्विजयं कुर्वते, यथा रघुः शङ्कराचार्यश्चेति तावेवोपलक्ष्य सिंहं मार्तण्डं सूर्यं च वर्णयति। सिंहसूर्यौ मन्त्रिसाहाय्यनिरपेक्षौ एव विजयेते इति भावः ॥ ९३ ॥

भो अश्वत्थ ! कुतो भवानतिदलो भीत्या भृशं कम्पते
त्वामार्या हरिरूपिणं कथमपि च्छेत्स्यन्ति न क्वाप्यमी ।
मन्ये त्वं सहकारसौरभदृशा न्यक्कारितः कानने
जातस्तेन च किं भवान् भगवतो देहो जगत्पूजितः ॥९४॥

सर्वजगत्पूजितं लोकातिशायिनं विस्तीर्णशिष्यगणं कमपि विद्वांसम् अहंमन्यः क्षणिकपूज्यश्च कश्चित् तं तिरस्कृतवान्, तमेवोपलक्ष्य अश्वत्थमाह–भो अश्वत्थ ! भवान् अतिदलः अतिशयितानि दलानि पत्राणि यस्येति, दलशब्दः सहायके पक्षावलम्बिन्यपि, यथा दलबलयुक्त आगतः इति । एवं च बहुतरशिष्यगणश्च । भीत्या भयेन भृशमतिशयितं कुतः कम्पते ? अतिदलत्वेऽपि पुरुषकृतं छेदनमनिवार्यमिति चेत् ? अमी आर्याः शास्त्रमर्यादानुगामिनः शिष्टाचारमर्यादापालकाश्च हरिरूपिणं वासुदेवं त्वां कथमपि सामदानादिनापि क्वापि विद्यमानमिति गम्यम्, क्वापि विद्यमानं न छेत्स्यन्ति, नैव कर्तिष्यन्तीत्यर्थः । अहं तु एवं मन्ये, त्वं मासत्रयमात्रसमादृतेन सहकारेण सौरभदृशा धिक्कारितः, तेन किं स्यात् ; कानने जडानां सत्त्वात् , परं भवान् भगवतो वासुदेवस्य स्वरूपः सर्वपूज्यश्च त्वत्साम्यं कथमपि नायं वराक गच्छतीति भावः ॥ ९४ ॥

आयत्तं नयते प्रमादवशगं कृत्वा मदस्राविणं
दीर्घं मत्तमतङ्गजं बहुबलं बुद्धिर्नराणामहो ।
किञ्चान्यद् गजराजमर्दनपटुं कण्ठीरवं भल्लकं
सर्वान् नर्तयते सदाऽतिचतुरा बुद्धिः सतां काष्ठवत् ॥९५॥

ईश्वरः अशुभकर्मोदयात् प्रमादिनं विधाय स्वकृतमुपयोजयतीत्युपलक्ष्य मनुष्यबुद्धिवशीकृतान् सिंहादिकानाह– नराणां बुद्धिः मदस्राविणं दीर्घमत्युन्नतं

बहुबलं बलेन सर्वतोऽधिकम्, सिंहादिभ्योऽप्यतिबलिष्ठं मत्तमतङ्गजं प्रमादवशगं कृत्वा, आयत्तं स्वाधीनं नयते करोतीत्यर्थः। अन्यत् सुगमम् ॥ ९५ ॥

अश्वत्थो बहुशो दलेषु चपलः सर्वान् जनान् बोधयन्
बुद्धस्यैव मतौ विधाय तपसा मोक्षं पदं प्रापयत्।
संसारोऽतिचलाचलः क्षणमपि स्थैर्यं न धत्ते क्वचित्
शिक्षामेष दलेष्वतिप्रचलनाद् दत्ते जनायानिशम् ॥९६॥

संसारोऽतिचलः, क्वचिदपि कदापि स्थैर्यं नैतीति बौद्धसिद्धान्तम्, सर्वोऽपि सदा परिणमतीति वेदान्तदर्शनम्, गुणानां साम्यावस्थामपहायैव प्रवृत्तं संसारचक्रं नाद्यापि स्थिरतामायातीति सांख्यादिसिद्धन्तानि कैश्चिदुक्तानि, तदेवोपलक्ष्य अश्वत्थः पत्राणां चापल्येन बोधयति। अश्वत्थः "संसार-स्वरूपमिति गम्यम्, सर्वान् जनान् बोधयन् बहुशः दलेषु चपलः सन्, बुद्धस्य गौतमस्य मतौ विधाय, संसारास्थैर्येण प्रतिबोध्य तपसा मोक्षं पदं प्रापयत्। बुद्धं मोक्षपदे अकार्षीदिति भावः। "गतिबुद्धी०"इति कर्मत्वात् कर्मणि द्वितीया। संसारोऽतिचलाचलस्वभावः, क्षणमपि नैकरूपतया क्वचित्स्थैर्यं धत्ते, न किमप्येकरूपतया क्षणमपि स्थिरतामुपगच्छतीति दलेषु अतिप्रचलनात् संसारस्वरूपस्यानुकृतिं विधाय जनाय अनिशम् "सततानारताश्रान्त-सन्ततावितरतानिशम्" इत्यमरः। अविरतरूपेण दलानां स्पन्दनात् तद्रूपतया अनिशं विरामरहितं यथा स्यात् तथा शिक्षां दत्ते इत्यर्थः॥ ९६ ॥

दश दश पिब रक्तं मौनमास्थाय वाढं
मशक ! मम शरीरे सर्वतो वर्तमानम् ।
किमिह विजयनादं त्वं तनोषि प्रयाते
लघुरपि करघातो नेष्यते तेऽवसानम् ॥९७॥

कश्चित् समर्थो विद्वान् राजा वा विद्वांसं निन्दन्तं, किञ्चिद् ग्रामैकभागमायत्तं कुर्वन्तं वा कमपि दुष्टं जनं दयया उपेक्षया वैरिणं कथयतीत्युपलक्ष्य मशकमाह—रे मशक ! मम वैदुष्यापेक्षया, राज्यापेक्षया वा दश दश यथेच्छं मूर्खादिपदैर्निन्दां चर, सर्व एव मम गुणौदार्यं जानाति, नैतावता किञ्चिदपहीयते, मम शरीरे अस्मत्कृतिषु विशालतमे राज्ये च सर्वतो वर्तमानं रक्तं मौनम् आस्थाय प्रच्छन्नरूपेण, दारिद्र्यरूपेण याचकतया वा पिब । मम वैदुष्यं ग्रन्थेषु छात्रेषु व्याप्तमेव । अथवा विशालतमत्वाद् राज्यस्य स्वल्पग्रहणेऽपि न काचिदपि हानिः । त्वं प्रयातः गच्छन् सन् इह विजयनादं किं तनोषि; लघुरपि करघातः हस्तताडनम्, त्वद्विरुद्धतया पूर्वपक्षकरणम्, ममैव प्रजात्वात् करस्थापनं वा ते तव अवसानम् समाप्तिं नेष्यते करिष्यति, नामापि नावशेक्ष्यतीत्यर्थः । मशकपक्षे स्फुट एवार्थः ॥ ९७ ॥

पाटीरः सहवासिनः क्षितिरुहान् गन्धेन मूल्यादिभिः
सर्वानेव सदा समानगुणिनो तुल्यान् विधत्ते मुदा ।
पृच्छाम्येनमपास्य किन्नु भगवन् ! प्राण्यस्ति तादृग्गुणो
यो हीर्ष्यापरिवर्जितस्त्रिभुवने सृष्टोऽस्ति कश्चित्क्वचित् ॥९८॥

कश्चिद् योगी ईर्ष्याद्वेषरहितः सर्वोपकारकरणव्रतोऽपि नात्मसदृशा-

नन्यान् कर्तुं शक्नोतीति पाटीरस्य सर्वलोकातिशायित्वमुपलक्ष्य वर्णयति— पाटीरः चन्दनवृक्षः सहवासिनः सहस्थितान् इतरानपि क्षितिरुहान् वृक्षान् सदा सर्वदा सर्वानेव गन्धेन मूल्यादिभिः आदिपदाद् हृद्गततैलमज्जयोर्ग्रहणम् । तुल्यान् सदृशान् समानगुणिनः शैत्यादिगुणविशिष्टांश्च मुदा हर्षेण विधत्ते । भगवन् ! अहं पृच्छामि ? हे भगवन् ! किन्नु एनम् अपास्य तादृग्गुणः स्वसादृश्येन सहचारिणां विधायकः प्राणी देहधारी जीवः अस्ति ? यस्त्वया त्रिभुवने क्वचित् कश्चित् सृष्टः अस्ति ? यो हीर्ष्यारहितः स्वसमानतया निष्पादयितुं शक्तोऽस्तीति सर्वलोकातिशयित्वं पाटीरस्यास्ति । सारूप्यमुक्ति दाता प्रभुरेवास्ति ॥ ९८ ॥

कृष्ण ! त्वं मम मानसेऽतिकुटिले वक्रस्थितेर्वादयन्
वेणुं साधु सखीजनैश्च विपिने रासं व्यधा वासतः ।
साधूनामथवा विरक्तमनसां युक्तात्मनां वा ऋजु-
स्वान्ते चेन्नु वसिष्यसि क्षणमपि, क्षुण्णो भविष्यस्यलम् ॥९९॥

हे कृष्णेति वक्रस्थित्यैव वेणुवादनस्वभावात् स्वहृदयस्यातिकौटिल्य-माश्रित्याह—वक्रस्थितेः वक्रस्थितिहेतुकतया वेणुवादात् तथाभूतः सन् वेणुं वादयन् अतिकुटिले वेणुवादनसमये तव स्थितियोग्ये मम हृदये वासतः निवासात् विपिने वृन्दावने साधु सम्यक् प्रकारेण सखीजनैः गोपिकाभी-राधाललिताविशाखाप्रभृतिभिः सह रासं चरेः । साधूनामथवा विरक्तमनसां वैरागिणाम्, यद्वा युक्तात्मनाम्—युक्तयोगिनामित्यर्थः । "युक्तस्य सर्वदा भानं

युञ्जासहक्कतोऽपरः'' । ऋजुनि दण्डवद् अकुटिले स्वान्ते चेतसि चेन्नु क्षणमपि वसिष्यसि तदा अलं पर्याप्तं क्षुण्णो भविष्यसि। तव वक्रस्थितिस्वभावात् तत्र गतः सारल्याद् अङ्गप्रत्यङ्गैश्चूर्णो भविष्यसि । अयमाशयः—उक्तास्त्रयोऽपि मुक्तिमार्गमुपगता एव तत्र न ते गन्तुमावश्यकता, किन्तु कार्यव्यासक्तानां कुटिलहृदयानां तव ध्यानलग्नानां गृहिणामुद्धाराय झटिति तत्र वसेति भावः ।। ९९ ।।

त्वत्तो भवन्ति मणयोऽपि च शैलराज !
रत्नानि हीरकगणस्तपनीयरूप्ये ।
तान्यम्बुधौ प्रचलितानि जलेन तस्माद्
रत्नाकरः स कथितो भवतः प्रभावात् ।।१००।।

केनापि विदुषा महात्मना स्वतपःप्रभावाद् देवाराधनप्रभावाद्वा प्रबोधितः कश्चिच्छात्रः विदेशे गत्वा लोकातिशयचमत्कारेण लोकान् बोधयन् तद्गुरो रामकृष्णस्यैवात्र प्रभाव इत्युपलक्ष्य शैलराजं रत्नाकरं वर्णयति—त्वत्त इति । हे शैलराज ! शैलाधिपते ! त्वत्तः मणयः पद्मरागसूर्यकान्तचन्द्रकान्तप्रभृतयो भवन्ति, अपि च रत्नानि शोणकरत्नप्रभृतीनि हीरकगणश्च रत्नत्वेन हीरकस्यापि ग्रहणे सिद्धे तदुपादानं लोकातिशयप्रभाकारित्वेन तस्य वैशिष्ट्यबोधनार्थम्, कोहनूररत्नस्यातिमूल्यत्वात् । तपनीयं स्वर्णम्, रूप्यं रजतम्, सर्वाण्येतानि त्वत्त एव उत्पद्यन्ते । तानि जलेन जलवेगप्रवाहस्य अधीनतामुपगतानि अम्बुधौ प्रचलितानि समुद्रे प्राप्तानि, तस्मात् कारणात् स समुद्रः

भवतः प्रभावाद् रत्नाकरः कथितः । अस्य रत्नाकरत्वे भवत एव प्रभाव इति भावः ॥ १०० ॥

शङ्करानुग्रहेणैवान्योक्तयः कथिताः शुभाः ।
ग्रन्थोऽयं त्रिंशतितमो विद्वद्गोष्ठीषु जृम्भताम् ॥

इति श्रीवाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयसम्मानितप्राध्यापक-
महामहोपाध्यायसोलनराजगुरुमथुराप्रसाददीक्षितकृतासु
अन्योक्तिषु द्वितीयं शतकम् ।

मुख्य वितरक

मोतीलाल बनारसीदास

नेपाली खपरा, वाराणसी